उठो! उठो! संसार दुःख से जल रहा है।
क्या तुम सो सकते हो? हम बार बार पुकारें,
जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक
अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें।
जीवन में और क्या है? इससे महान् कर्म क्या है?

- स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग,
धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२
E-mail - rkmnpb@gmail.com
Ph - 0712-2432690 / 9403290300
Website - www.rkmnstore.org

ISBN 978-8-1928141-1-7

For Online Purchase

(H160) VIVEKAWANI : ₹ 80/-

विवेकवाणी

विवेकवाणी

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ

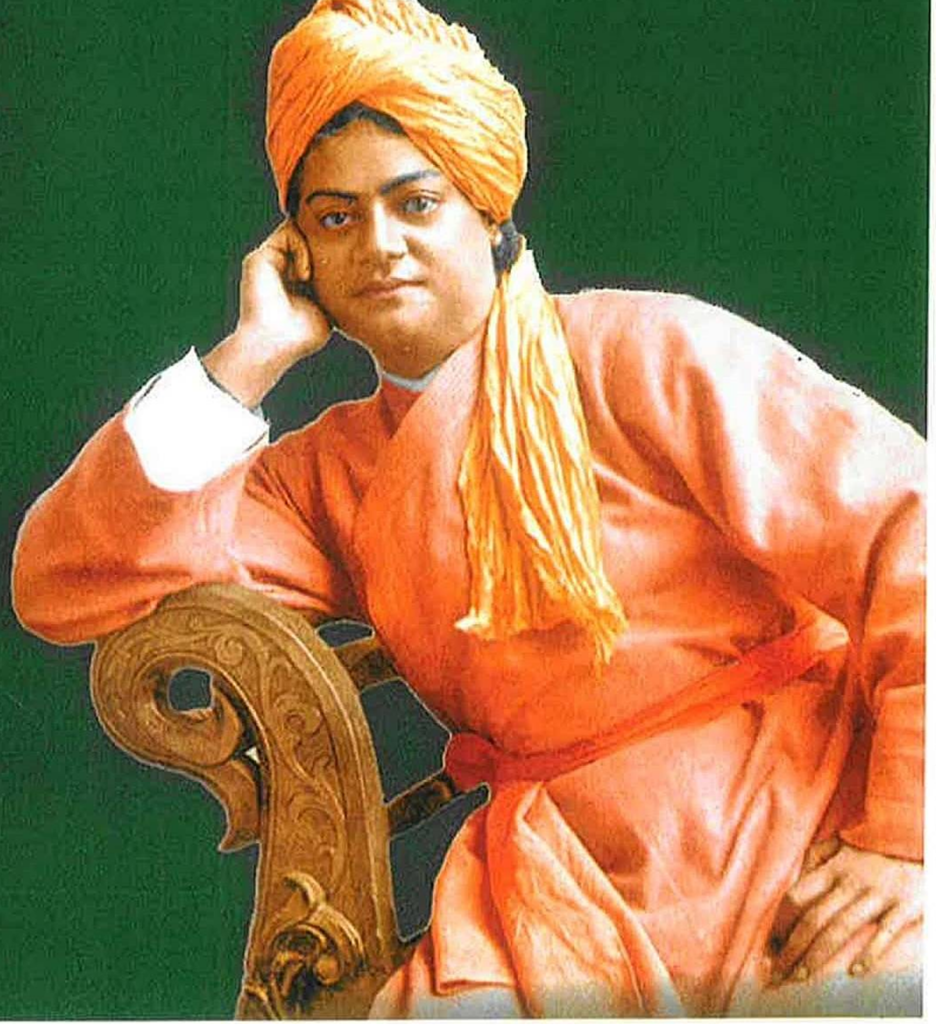

विवेकवाणी

(स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प १६०
(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित)
वर्ष २००२ से २०१९ तक : ४९,२००
बारहवाँ पुनर्मुद्रण : ३१.८.२०२३
मुद्रित प्रतियाँ : ३,०००

ISBN – 978-81-928141-1-7

मुद्रक :
लक्ष्मी ऑफसेट, नागपुर

मूल्य : रु. ८०.००

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

'Teachings of Swami Vivekananda' इस अंग्रेजी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'विवेकवाणी' पाठकों के सम्मुख रखते हमें हर्ष हो रहा है। विभिन्न विषयों पर स्वामी विवेकानन्दजी के विचार इस पुस्तक में समाविष्ट हुए हैं। इस ग्रन्थ को हम स्वामीजी के विचारों का प्रतिनिधि-ग्रन्थ कह सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुष इस धरातल पर सैकड़ों वर्षों बाद ही अवतीर्ण होते हैं। इस बार स्वामीजी का आगमन समस्त मानव जाति के लिए हुआ है, परन्तु विशेष रूप से यह भारत के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के संस्पर्श में आकर स्वामीजी ने निर्विकल्प समाधि द्वारा सत्य प्राप्ति के पश्चात् लोकहित का कार्य शुरु किया। अत: उनकी वाणी में हमें दैवी शक्ति तथा ओज का अनुभव होता है। स्वामी विवेकानन्दजी ने अमेरिका, इग्लैण्ड तथा भारत आदि देशों में जो विभिन्न व्याख्यान दिये तथा भिन्न भिन्न समयों पर विशिष्ट जनसमुदाय के सम्मुख अपने विचार प्रकट किये, उन्हें ही प्रस्तुत पुस्तक में हमने एकत्रित किया है। यह ग्रन्थ स्वामी विवेकानन्दजी के उदात्त, ओजस्वी, प्रेरणादायी विचारों के 'संदर्भ ग्रन्थ' के रूप में भी लाभप्रद हो सकता है।

इन विचारों से भारतीय जनमानस का विशेष उपकार हुआ है। इसमें ऐसा एक भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा है – जिस पर स्वामीजी ने अपने विचार प्रकट न किये हों। अत: इन विचारों की सहायता से हमारे युवा वर्ग के सामने उन्होंने एक चुनौती प्रस्तुत की है, जिससे हमारा वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन एक नये सुदृढ़ आधार पर खड़ा रह सकेगा। इन स्फुट

विचारों का संकलन हमने अद्वैत आश्रम, मायावती से दस खण्डों में प्रकाशित विवेकानन्द साहित्य से किया है। प्रत्येक उक्ति के अन्त में खण्ड संख्या तथा पृष्ठ संख्या दी हुई है।

हमें विश्वास है कि यह ग्रन्थ प्रत्येक सत्य जिज्ञासु साधक तथा स्वदेशप्रेमी नागरिक के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होगा।

नागपुर
दि. १० सितम्बर २००२ — **प्रकाशक**
श्रीगणेशचतुर्थी

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
१.	मनुष्य	१
२.	सुख	७
३.	कर्तव्य	१२
४.	नीतिमत्ता	१७
५.	हिन्दू	२३
६.	भारत की विशेषताएँ	२७
७.	भारत की अवनति के कारण	३१
८.	भारत के पुनरुत्थान के उपाय	३६
९.	एकत्व	४५
१०.	धर्म	४८
११.	हिंदुधर्म	५७
१२.	श्रीकृष्ण और कर्मयोग	६२
१३.	बुद्ध	७२
१४.	बुद्धधर्म	७८
१५.	येशु ख्रिस्त	८१
१६.	ख्रिस्त धर्म	८६
१७.	महंमद और इस्लाम	८९
१८.	श्रीरामकृष्ण	९३
१९.	उपनिषद	१०१
२०.	गीता	१०७
२१.	योग	११२
२२.	वेदान्त तत्वज्ञान और अभ्यास	११७

			पृष्ठ
२३. ज्ञान और विज्ञान	...	...	१३१
२४. माया	...	...	१३७
२५. आत्मा	...	...	१४३
२६. ब्रह्म या अन्तिम सत्य	...	...	१४८
२७. स्वातंत्र्य और मुक्ति	...	...	१५१
२८. ईश्वर	...	...	१५९
२९. अवतार	...	...	१६८
३०. गुरु या आध्यात्मिक मार्गदर्शक	...	...	१७२
३१. विश्वास	...	...	१७५
३२. भक्ति या ईश्वर प्रेम	...	...	१७९
३३. मूर्तिपूजा	...	...	१८९
३४. मन और विचार	...	...	१९५
३५. एकाग्रता	...	...	१९८
३६. ध्यान	...	...	२०१
३७. आहार	...	...	२०५
३८. अहिंसा	...	...	२०९
३९. बल	...	...	२१३
४०. गृहस्थ जीवन	...	...	२१८
४१. संन्यास या संन्यस्त जीवन	...	...	२२२
४२. शिक्षा	...	...	२३०
४३. सेवा	...	...	२३५
४४. स्त्रीत्व का आदर्श	...	...	२४०

विवेकवाणी

(स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ)

१

मनुष्य

१. सब प्रकार के शरीरों में मानव-शरीर ही श्रेष्ठतम है; मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के प्राणियों से – यहाँ तक कि देवादि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई और नहीं। देवताओं को भीं ज्ञान-लाभ के लिए मनुष्यदेह धारण करनी पड़ती है। एकमात्र मनुष्य ही ज्ञान-लाभ का अधिकारी है, यहाँ तक कि देवता भी नहीं। यहूदी और मुसलमानों के मतानुसार, ईश्वर ने देवदूत और अन्य समुदय सृष्टियों के बाद मनुष्य की सृष्टि की। और मनुष्य के सृजन के बाद ईश्वर ने देवदूतों से मनुष्य को प्रणाम और अभिनन्दन कर आने के लिए कहा। इबलीस को छोड़कर बाकी सबने ऐसा किया। अतएव ईश्वर ने इबलीस को अभिशाप दे दिया। इससे वह शैतान बन गया। इस रूपक के पीछे यह महान् सत्य निहित है कि संसार में मनुष्य-जन्म ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। (१/५३-५४)

२. आश्चर्य की बात है कि सभी धर्म एक स्वर से घोषणा करते हैं कि मनुष्य पहले निष्पाप और पवित्र था, पर आज उसकी अवनति हो गयी है, इस भाव को फिर वे रूपक की भाषा में, या दर्शन की स्पष्ट भाषा में अथवा कविता की सुन्दर भाषा में क्यों न प्रकाशित करें, पर वे सब के सब अवश्य इस एक तत्त्व की घोषणा करते हैं। (२/५)

३. अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है, वह अनन्त और सर्वव्यापी है, और यह प्रातिभासिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है। इसी अर्थ में पूर्वोक्त पौराणिक तत्व भी सत्य हो सकते हैं कि प्रातिभासिक जीव, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, मनुष्य के इस अतीन्द्रिय, प्रकृत स्वरूप का धुँधला प्रतिबिम्ब मात्र है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप – आत्मा – कार्य-कारण से अतीत होने के कारण, देश-काल से अतीत होने के कारण, अवश्य मुक्तस्वभाव है। वह कभी बद्ध नहीं थी, न ही बद्ध हो सकती थी। यह प्रातिभासिक जीव, यह प्रतिबिम्ब, देश-काल-निमित्त के द्वारा सीमाबद्ध होने के कारण बद्ध है। अथवा हमारे कुछ दार्शनिकों की भाषा में, 'प्रतीत होता है, मानो वह बद्ध हो गयी है, पर वास्तव में वह बद्ध नहीं है।' (२/१०-११)

४. सम्पूर्ण शास्त्र एवं विज्ञान मनुष्य के रूप में प्रकट होनेवाली इस आत्मा की महिमा की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह समस्त ईश्वरों में श्रेष्ठ है, एकमात्र वही ईश्वर है, जिसकी सत्ता सदैव थी, सदैव है और सदैव रहेगी। (२/२१२)

५. आदमी भ्रमवश अपने से बाहर विभिन्न देवताओं की तलाश में रहता है, पर जब उसके अज्ञान का चक्कर समाप्त होता है, तो वह पुन: लौटकर अपनी आत्मा पर आ टिकता है। जिस ईश्वर की खोज में वह दर दर भटकता रहा, वन-प्रान्तर तथा मन्दिर-मस्जिद को छानता रहा, जिसे वह स्वर्ग में बैठकर संसार पर शासन करनेवाला मानता रहा, वह कोई अन्य नहीं, बल्कि उसकी अपनी ही आत्मा है। वह मैं है, और मैं वह। मैं ही (जो आत्मा हूँ) ब्रह्म हूँ, मेरे इस तुच्छ 'मैं' का कभी अस्तित्व नहीं रहा। (२/२१३)

६. ईश्वरोपासना करने के लिए प्रतिमा आवश्यक है, तो उससे कहीं श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर निर्माण करना चाहते हो, तो करो, किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव देह रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है। (८/२३)

७. जीवित ईश्वर तुम लोगों के भीतर रहते हैं, तब भी तुम मन्दिर, गिरजाघर आदि बनाते हो और सब प्रकार की काल्पनिक झूठी चीजों में विश्वास करते हो। मनुष्य-देह में स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। पशु भी भगवान् के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देहरूपी मन्दिर में उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उनमें ईश्वर देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जायगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा – बाँधनेवाले पदार्थ हट जायँगे और मैं मुक्त हो जाऊँगा। (८/२९-३०)

८. यह आदर्श अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य का अहंभाव पूर्णतया नष्ट हो जाता है, उसका स्वत्व-भाव लुप्त हो जाता है, जब उसके लिए ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह 'मैं' और 'मेरी' कह सके, जब वह पूर्णतया आत्म-विसर्जन कर देता है, मानो अपनी आहुति दे देता है। इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति के अन्तर में स्वयं ईश्वर निवास करता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की अहं-वासना पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है, एकदम निर्मूल हो गयी है। यह है आदर्श व्यक्ति। (७/२२७)

९. जिस परिमाण में मनुष्य इन्द्रियपरायणता को छोड़कर उच्च भाव-जगत् में अवस्थान करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, जिस परिमाण में वह विशुद्ध चिन्तन रूपी प्राणवायु फेफड़ों के भीतर खींचने में समर्थ हो जाता है तथा जितने अधिक समय तक वह उस उच्च अवस्था में रह सकता है, केवल इसी आधार पर उसका विकास आँका जा सकता है। (९/२५९)

१०. पहले हमें ईश्वर बन लेने दो। तत्पश्चात् दूसरों को ईश्वर बनाने में सहायता देंगे। बनो और बनाओ, यही हमारा मूल-मंत्र रहे।

ऐसा न कहो कि मनुष्य पापी है। उसे यह बताओ कि तू ब्रह्म है। यदि कोई शैतान हो, तो भी हमारा कर्तव्य यही है कि हम ब्रह्म का ही स्मरण करें, शैतान का नहीं। (९/३७९-८०)

११. जब तुम अपने आपको शरीर समझते हो, तुम विश्व से अलग हो; जब तुम अपने आपको जीव समझते हो, तब तुम अनन्त अग्नि के एक स्फुलिंग हो; जब तुम अपने आपको आत्मस्वरूप मानते हो, तभी तुम विश्व हो। (१०/२१३)

१२. चालाकी से कोई बड़ा काम पूरा नहीं हो सकता। प्रेम, सत्यानुराग और महान् वीर्य की सहायता से सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। तत् कुरु पौरुषम, इसलिए पुरुषार्थ को प्रकट करो। (४/३१७)

१३. हम नियम नहीं चाहते, हम चाहते हैं नियम को तोड़ने का सामर्थ्य। हम नियमों से बाहर चले जाना चाहते हैं। यदि तुम नियमों से बँधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भाँति निर्जीव हो। प्रश्न यह नहीं है कि तुम नियमातीत हो या नहीं; किन्तु यह धारणा कि हम नियमातीत हैं, समस्त मानव इतिहास की आधारशिला है। (९/१६७)

१४. प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्त है, केवल इन सब विभिन्न अवस्था-चक्ररूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी वह अनन्त शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। (१०/३८२)

१५. योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो गुलाम हैं – खाने-पीने के गुलाम, अपनी स्त्री के गुलाम, अपने लड़के-बच्चों के गुलाम, रुपये-पैसे के गुलाम, स्वदेशवासियों के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जलवायु के गुलाम, इस संसार के हजारों विषयों के गुलाम! जो मनुष्य इन बन्धनों में से किसी में भी नहीं फँसें, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं – यथार्थ योगी हैं। (१०/३९०-९१)

१६. प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत बनाने के लिए अवसर विद्यमान है। हम अपना नाश नहीं कर सकते, हम अपने भीतर की जीवनी शक्ति को नष्ट या दुर्बल नहीं कर सकते, परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं। (१०/३७६)

१७. व्यावहारिक और शरीर से सबल होने की शिक्षा देनी चाहिए। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु लाख-लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो। (१०/३७२)

१८. मनुष्य एक छोटे बक्से में कुण्डलित अनंत स्प्रिंग (infinite spring) जैसा है, जो कि अपने को खोलने का प्रयत्न कर रहा है। हम लोग जो भी सामाजिक व्यवस्था देखते हैं, वह इस अभिव्यक्ति का प्रयत्न मात्र है। (९/११८)

१९. आप तो ईश्वर की सन्तान हैं, अमर आनंद के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं। आप इस मर्त्यभूमि पर देवता हैं। आप भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वरूप पर घोर लांछन है। आप उठें! हे सिंहो! आयें, और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दें कि आप भेंड़ हैं। (१/१२)

२०. हम सभी एक जीवाणु-कोष से उत्पन्न हुए हैं और हम लोगों में जो कुछ भी शक्ति है, वह उसीमें कुण्डलीरूप में बैठी थी। तुम लोग यह नहीं कह सकते कि वह खाद्य में से आयी है; ढेर की ढेर खाद्य-सामग्री लेकर एक पर्वत बना डालो, किन्तु देखोगे उसमें से कोई शक्ति नहीं निकलती। हम लोगों के भीतर शक्ति पहले से ही अव्यक्त भाव में निहित थी, और वह थी अवश्य। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति भरी पड़ी है, मनुष्य को उसका ज्ञान हो या न हो। उसे केवल जानने की ही अपेक्षा है। धीरे धीरे मानो वह अनन्त शक्तिमान दैत्य जाग्रत होकर अपनी

शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर रहा है और जैसे जैसे वह सचेतन होता जाता है, वैसे वैसे एक के बाद एक उसके बन्धन टूटते जाते हैं, शृंखलाएँ छिन्न-भिन्न होती जाती हैं; और वह दिन अवश्य ही आयगा, जब वह अपनी अनंत शक्ति के पूर्ण ज्ञान के साथ अपने पैरों पर उठ खड़ा होगा। आओ, हम सब लोग उस महिमामयी निष्पत्ति को शीघ्र लाने में सहायता करें। (८/४७)

□□□

२

सुख

१. मनुष्य मूर्खतावश सोचता है कि वह अपने को सुखी बना सकता है, परन्तु वर्षों के घोर संघर्ष के बाद उसकी आँखें खुलती हैं और वह यह अनुभव करता है कि वास्तविक सुख तो स्वार्थपरता को नष्ट कर देने में है, और सिवा अपने उसे और कोई सुखी नहीं बना सकता। (३/५९)

२. इस जगत् में सचमुच सुखी कभी कोई नहीं हुआ। यदि कोई मनुष्य धनी है और उसे खाने-पीने को खूब है, तो उसकी पाचनशक्ति ही खराब है और वह कुछ खा-पी नहीं सकता। और यदि किसी की पाचनशक्ति अच्छी है और उसे वृकोदर की सी भूख लगती है, तो उसे खाने को ही नहीं मिलता। फिर, यदि कोई धनी है, तो उसे बाल-बच्चे ही नहीं हैं। और यदि कोई भूखों मर रहा है, तो उसके लड़के-लड़कियों की एक फौज सी है और उसे यह भी नहीं सुझता कि वह उनका क्या करे। ऐसा क्यों है? बस, इसीलिए कि सुख और दुःख एक ही सिक्के के चित और पट हैं। जिसे सुख चाहिए, उसे दुःख भी लेना होगा। हम लोग मूर्खतावश सोचते हैं कि बिना कोई दुःख के हमें केवल सुख ही सुख मिल जायगा, और यह बात हममें ऐसी भिद गयी है कि इन्द्रियों पर हम अधिकार ही नहीं कर पाते। (३/१०३)

३. भारत में कोल्हू में बैल जोते जाते हैं। तेल निकालने के लिए बैल गोल ही गोल घुमाया जाता है। बैल के कन्धे पर जुआ होता है। जुए का एक सिरा आगे बढ़ा होता है। उसके एक छोर पर घास बाँध दी जाती है। फिर बैल की आँख इस तरह बाँध देते हैं कि वह केवल सामने ही

देख सके। बैल अपनी गर्दन बढ़ाता है और घास खाने की कोशिश करता है। ऐसा करने से लकड़ी आगे धक्का खाती है। बैल दूसरी बार, तीसरी बार फिर कोशिश करता है और इसी तरह कोशिश करता ही जाता है। वह घास उसके मुँह में कभी नहीं आती परन्तु उसे पाने की आशा में वह घूम घूम कर चक्कर लगाता ही जाता है और इस प्रकार वह तेल निकालता जाता है। इसी प्रकार हम भी प्रकृति, रुपये-पैसे, स्त्री-बच्चों के जन्मजात दास हैं। और इसीप्रकार काल्पनिक एक तृणखण्ड को पाने के लिए हजारों जन्म तक हम चक्कर लगाते जाते हैं, पर जो हम पाना चाहते हैं, वह हमें नहीं मिलता। प्रेम एक ऐसा ही बड़ा सपना है। हम लोगों को प्यार करते हैं ओर चाहते हैं कि लोग हमें प्यार करें। हम समझते हैं कि हम सुखी होनेवाले हैं और हम पर दु:ख कभी न आयेगा, किन्तु जितना ही हम सुख की ओर जाते हैं, उतना ही अधिक वह हमसे दूर भागता जाता है। (३/१०२)

४. हमने देखा है, कैसे सुख देह में अथवा मन में अथवा आत्मा में अवस्थित है। पशुओं का एवं पशुप्राय निम्नतम मनुष्यों का समस्त सुख देह में है। भूख से आर्त एक कुत्ता अथवा भेड़िया जिस प्रकार सुखपूर्वक आहार करता है, कोई मनुष्य उस प्रकार नहीं कर सकता। अत: कुत्ते अथवा भेड़िये के सुख का आदर्श सम्पूर्ण रूप से देहगत है। मनुष्य में हम एक उच्चतर स्तर का, विचार-स्तर का,सुख देखते हैं। सर्वोच्च स्तर का सुख ज्ञानी का है – वे आत्मानन्द में विभोर रहते हैं। आत्मा ही उनके सुख का एकमात्र उपकरण है। अतएव ज्ञानी के पक्ष में यह आत्मज्ञान ही परम् उपयोगिता है; क्योंकि इससे ही वे परम सुख प्राप्त करते हैं। इन्द्रियचरितार्थता उनके लिए सर्वोच्च उपयोगिता का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि वे ज्ञान में जिस प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं, विषय समूह अथवा इन्द्रिय-भोग से उस प्रकार नहीं पाते। तथा वास्तव में ज्ञान ही सबका एकमात्र लक्ष्य है, तथा हम जितने प्रकार के सुख के विषयों से परिचित हैं, उनमें से ज्ञान ही सर्वोच्च सुख है। (६/२९०-९१)

५. "पराधिनता दैन्य है। स्वाधीनता ही सुख है।' अद्वैत ही एकमात्र दर्शन है, जो मनुष्य को अपनी पूर्ण उपलब्धि कराता है – अपना स्वामी बना देता है; समस्त पराधीनता और उससे साबन्धित आन्धविश्वास को उतार फेंकता है और इस प्रकार हमें कष्ट झेलने में वीर, कर्म करने में वीर बनाता है और अन्तत: परम मुक्ति-लाभ करा देता है। (९/३१८)

६. क्या संसार को हम कोई चिरन्तन सुख दे सकते हैं? समुद्र के जल में बिना किसी एक जगह गर्त पैदा किये हम एक भी लहर नहीं उठा सकते। इस संसार में मनुष्य की आवश्यकता और उसके लोभ से संबंधित शुभ वस्तुओं की समष्टि सदैव समान रहती है। वह न तो कम की जा सकती है, न अधिक। हम मानव-जाति का इतिहास ही ले लें, जैसा वह हमें आज ज्ञात है। क्या हमें सदैव वही सुख-दु:ख, वही हर्ष-विषाद तथा अधिकार का वही तारतम्य नहीं दिखायी देता? क्या कुछ लोग अमीर, कुछ गरीब, कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ स्वस्थ, कुछ रोगी नहीं हैं? ये सब ऐसा ही प्राचीन काल में मिस्रवासियों, यूनानियों और रोमनों के साथ सत्य था, और वैसा ही आज अमेरिकावालों के साथ भी। जहाँ तक हमें इतिहास का ज्ञान है, यही दशा सदैव रही है। (३/८४)

७. हम इस संसार में सुख को नहीं बढ़ा सकते, और न दु:ख को ही। इस संसार में शुभ और अशुभ शक्तियों की समष्टि सदैव समान रहेगी। हम उसे सिर्फ यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ ढकेलते रहते हैं; परन्तु यह निश्चित है कि वह सदैव समान रहेगी, क्योंकि वैसा रहना ही उसका स्वभाव है। यह ज्वारभाटा, उतार-चढ़ाव तो संसार की प्रकृति ही है। इसके विपरीत सोचना तो वैसा ही युक्तिसंगत होगा, जैसा यह कहना कि मृत्यु के बिना जीवन सम्भव है। (३/८५)

८. दर्शनशास्त्र के मत में एक ऐसा आनन्द है, जो निरपेक्ष और अपरिणामी है। वह आनन्द हमारे ऐहिक सुखोपभोग के समान नहीं है। तो भी वेदान्त प्रमाणित करता है कि इस जगत् में जो कुछ आनन्दकारी है, वह उसी प्रकृत आनन्द का अंश मात्र है, क्योंकि एकमात्र उस आनन्द का

ही वास्तविक अस्तित्व है। हम प्रतिक्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग कर रहे हैं, पर वह उसका आच्छन्न, भ्रांत और उपहासास्पद रूप ही होता है। जहाँ कहीं किसी प्रकार का आनन्द, हर्ष, आशीष देखो, यहाँ तक कि चोरों को चोरी में जो आनन्द मिलता है, वह भी वस्तुत: वही पूर्णानन्द है; केवल वह सभी प्रकार की बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से मलीन, धुँधला और भ्रांत हो गया है। (२/१७०)

९. प्रत्येक सुखोपभोग के बाद दु:ख आता है – यह दु:ख उसी क्षण आ सकता है, अथवा सम्भव है, कुछ देर में आये। जो आत्मा जितनी उन्नत है, उसे सुख के बाद दु:ख भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होता है। हमें सुख-दु:ख दोनों ही नहीं चाहिए। ये दोनों ही हमारे प्रकृत स्वरूप को भुला देते हैं। दोनों ही जंजीर हैं – एक लोहे की, दूसरी सोने की। इन दोनों के पीछे ही आत्मा है – उसमें न सुख है, न दु:ख। (७/१८)

१०. सुख आदमी के सामने आता है, तो दु:ख का मुकुट पहन कर। जो उसका स्वागत करता है, उसे दु:ख का भी स्वागत करना चाहिए। (१०/२२२)

११. जब मैं प्राणस्वरूप से एक हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है; जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दु:ख का अंत हो सकता है; जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा, तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है। (१/१५)

१२. केवल शारीरिक सहायता द्वारा ही संसार के दु:खों से छुटकारा नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य का स्वभाव ही परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक ये शारीरिक आवश्यकताएँ सदा बनी ही रहेंगी और फलस्वरूप क्लेशों का अनुभव भी सदैव होता रहेगा। कितनी भी शारीरिक सहायता उनका पूर्ण उपचार नहीं कर सकती। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह है मानव जाति को पवित्र कर देना। अपने चारों ओर हम जो अशुभ तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक ही मूल कारण है – अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र और आध्यात्मिक बलसम्पन्न

करो और शिक्षित बनाओ, तभी संसार से दु:ख का अन्त हो जायगा, अन्यथा नहीं। (३/२९)

१३. जब तक वासना रहती है, तब तक यथार्थ सुख नहीं आ सकता। केवल जब कोई व्यक्ति इस ध्यानावस्था से, साक्षिभाव से सारी वस्तुओं का परिशीलन कर सकता है, तभी उसे यथार्थ सुख और आनन्द प्राप्त होता है। (१/९८-९९)

१४. अन्य प्राणी इन्द्रियों में सुख पाते हैं, मनुष्य बुद्धि में, और देव-मानव आध्यात्मिक ध्यान में। जो ऐसी ध्यानावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उनके पास यह जगत् सचमुच अत्यन्त सुन्दर रूप से प्रतीयमान होता है। जिसकी वासना नहीं है, जो सर्व विषयों में निर्लिप्त हैं, उनके पास प्रकृति के ये विभिन्न परिवर्तन एक महा सौन्दर्य और उदात्त भाव की छबि मात्र हैं। (१/९९)

□□□

३

कर्तव्य

१. भिन्न भिन्न जातियों में कर्तव्य की धारणा भिन्न होती है। किसी देश में यदि कोई व्यक्ति कुछ विशिष्ट कार्य नहीं करता, तो लोग उस पर दोषारोपण करते हैं; परन्तु अन्य किसी देश में यदि वह व्यक्ति वही कार्य करता है, तो वहाँ के लोग कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया। फिर भी हम जानते हैं कि कर्तव्य का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है। इसी प्रकार, समाज का एक वर्ग सोचता है कि कुछ विशिष्ट बातें ही कर्तव्य हैं; परन्तु दूसरे वर्ग का विचार बिल्कुल विपरीत होता है और वह उन कार्यों को करना पातक समझेगा। अब हमारे सम्मुख दो मार्ग खुले हैं। एक अज्ञानी का, जो सोचता है कि सत्य का मार्ग केवल एक ही है तथा शेष सब गलत हैं; और दूसरा ज्ञानी का, जो यह मानता है कि हमारी मानसिक दशा तथा परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य तथा सदाचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। अतएव जानने योग्य प्रधान बात यह है कि कर्तव्य तथा सदाचार के विभिन्न स्तर होते हैं, और जीवन की एक अवस्था के, एक परिस्थिति के कर्तव्य दूसरी परिस्थिति के कर्तव्य नहीं हो सकते। (३/१२)

२. हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति घृणा न करें; क्योंकि आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। (३/१२-१३)

३. केवल किसी कार्यविशेष से कर्तव्य निर्धारित नहीं होता। कर्तव्य

की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा कर सकना नितान्त असम्भव है। किन्तु कर्तव्य का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं, तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है; परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह अशुभ है, और वह हमारा कर्तव्य नहीं। (३/३९)

४. प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। दूसरों के ऐसे आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, जिनको वह पूरा ही नहीं कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है। (३/१५)

५. जो जिस पद के योग्य नहीं है, वह दीर्घकाल तक उसमें रहकर सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अतएव प्रकृति के विधान के विरुद्ध बड़बड़ाना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करे, तो उसी कारण वह छोटा नहीं कहा जा सकता। कर्तव्य के केवल ऊपरी रूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्तव्य किस भाव और ढंग से करता है। (३/४१)

६. जो कर्तव्य हमारे निकटतम है, जो कार्य अभी हमारे हाथों में है, उसको सुचारु रूप से सम्पन्न करने से हमारी कार्य-शक्ति बढ़ती है; और इस प्रकार क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाते हुए हम एक ऐसी अवस्था की भी प्राप्ति कर सकते हैं, जब हमें जीवन और समाज के सबसे ईप्सित एवं प्रतिष्ठित कार्यों को करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। (९/१८४)

७. प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है और कर्तव्य-निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। (९/१८४)

८. हम जिस स्थिति के योग्य हैं, वही हमें मिलती है। प्रत्येक गेंद अपने अनुकूल छिद्र में ही गिरती है। यदि किसीकी योग्यता दूसरे से अधिक है, तो संसार इस निरंतर चलते रहनेवाले विश्वव्यापी समायोजन की प्रक्रिया में उसे जान लेगा। अतः बड़बड़ाने से कोई लाभ नहीं। यदि कोई धनी आदमी दुष्ट है, तो उसमें कुछ ऐसे भी गुण होंगे जिनके कारण वह धनी बना; और

यदि किसी दूसरे व्यक्ति में ये गुण हैं, तो वह भी धनवान बन सकता है। शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायँगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिए भी बड़बड़ाता है, वह हर एक वस्तु के लिए बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दु:खमय हो जायगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा, और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे। (९/१८५-८६)

९. जब तुम कोई कर्म करो, तब अन्य किसी बात का विचार ही मत करो। उसे एक उपासना के – बड़ी से बड़ी उपासना के रूप में करो, और उस समय उसमें अपना सारा तन-मन लगा दो। (३/४५)

१०. कर्मफल में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष को सब कर्तव्य समरूप से शुभ हैं। उसके लिए तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रियपरायणता को नष्ट करके आत्मा को मुक्त कर देने के लिए शक्तिशाली साधन हैं। (३/४५)

११. हम सब अपने को बहुत बड़ा मानते हैं। प्रकृति ही सदैव कड़े नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है। और इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हों, फिर भी वास्तव में हमारे कर्मफल के अनुसार ही हमारे कर्तव्य निर्दिष्ट होंगे। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। भिनभिनाते रहनेवाले पुरुष के लिए सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे कभी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फलस्वरूप उसका जीवन दूभर हो उठना और असफल हो जाना स्वाभाविक है। हमें चाहिए कि हम काम करते रहें; जो कुछ भी हमारा कर्तव्य हो, उसे करते रहें, अपना कन्धा सदैव काम से भिड़ाये रखें। तभी अवश्य हमें प्रकाश की उपलब्धि होगी। (३/४५-४६)

१२. अपना कर्तव्य पालन करके तुम सत्प्रकृति का उत्कर्ष करो। अपना

कर्तव्य पालन करने से हम कर्तव्य की भावना से मुक्ति पाते हैं; और केवल तभी, तभी हम हर बात को ईश्वरकृत अनुभव कर पाते हैं। हम सब तो उसके हाथ में यंत्र के समान हैं। यह शरीर अपारदर्शक है, ईश्वर दीपक है। जो कुछ शरीर के बाहर जा रहा है, वह ईश्वर का है। तुम इसे नहीं अनुभव करते, तुम 'मैं' का अनुभव करते हो। यह भ्रम है। तुम ईश्वर की इच्छा के समक्ष मूक समर्पण करना सीखो। कर्तव्य इसके लिए सर्वोत्तम पाठशाला है। यही कर्तव्य नैतिकता है। अपने को पूर्णतया विनम्र बनाने का अभ्यास करो। 'मैं' से मुक्ति प्राप्त करो। पाखंड नहीं। तब तुम कर्तव्य की धारणा से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो, क्योंकि सब ईश्वर का है। तब तुम स्वाभाविक रूप से सब कुछ भूलते और क्षमा इत्यादि करते हुए आगे बढ़ सकते हो। (१/३००)

१३. कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हलका और आसानी से चलता है, जब उसके पहियों में प्रेमरूपी चिकनाई लगी होती है, अन्यथा वह एक अविराम घर्षण मात्र है। यदि ऐसा न हो, तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति तथा पत्नी अपने पति के प्रति अपना अपना कर्तव्य कैसे निभा सकें? क्या इस घर्षण के उदाहरण हमें अपने दैनिक जिवन में सदैव दिखायी नहीं देते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम में ही है। (३/४१-४२)

१४. दासत्व को कर्तव्य कह देना, अथवा मांस के प्रति मांस की घृणित आसक्ति को कर्तव्य कह देना कितना सरल है! मनुष्य संसार में धन अथवा अन्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहता है। यदि उससे पूछो, "ऐसा क्यों कर रहे हो?" तो झट उत्तर देता है, "यह तो मेरा कर्तव्य है।" पर वह धन और लाभ के लिए निरर्थक लोभ मात्र है, लोग उसे कुछ फूलों से ढके रखने की चेष्टा करते हैं। (३/७७)

१५. कर्तव्य हमारे लिए एक प्रकार का रोग सा हो जाता है और

हमें सदा उसी दिशा में खींचता है। यह हमें जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दुःखपूर्ण कर देता है। यह मनुष्य-जीवन के लिए महा विभीषिकास्वरूप है। यह कर्तव्य-बुद्धि ग्रीष्मकाल के मध्याह्न सूर्य के समान है, जो मानवता की अन्तरात्मा को दग्ध कर देती है। कर्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखो! उनका कर्तव्य उन्हें प्रार्थना या स्नान-ध्यान करने का भी अवकाश नहीं देता। कर्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं, कर्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है। वे घर आते हैं और फिर अगले दिन का काम सोचने लगते हैं; कर्तव्य उन पर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई! फिर एक दिन ऐसा आ जाता है कि वे कसे-कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिरकर मर जाते हैं! कर्तव्य साधारणतया यही समझा जाता है। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त कर्म भगवान् को समर्पित कर देना ही असल में हमारा एकमात्र सच्चा कर्तव्य है। (३/७६)

□□□

४

नीतिमत्ता

१. 'वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य को कार्य में परिणत किया जा सकता है' – यही मेरा मत है। और यदि समाज इस समय उच्चतम सत्य को स्थान देने में समर्थ नहीं है, तो उसे इस योग्य बनाओ। और जितना शीघ्र तुम ऐसा कर सको, उतना ही अच्छा। हे नर-नारियों! उठो, आत्मा के सम्बन्ध में जाग्रत होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो, सत्य के अभ्यास का साहस करो। (२/१७-१८)

२. कौन जानता है, इन दोनों आदर्शों में कौन सत्य और उच्च है – पाश्चात्यों की यह बल-प्रतीयमान शक्ति या प्राच्यों की कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा?

पश्चिम कहता है, 'हम अशुभ पर विजय प्राप्त करके ही उसका नाश करते हैं।' भारत कहता है, 'हम अशुभ का नाश करते हैं, सहन करके, यहाँ तक कि वह हमारे लिए आनन्द की वस्तु बन जाता है।' शायद दोनों ही आदर्श महान् हैं; पर कौन जानता है, अन्ततोगत्वा कौन सा आदर्श जीवित रह सकेगा – किस आदर्श की जय होगी? कौन जानता है, किस आदर्श से मानव-जाति का अधिकतर यथार्थ कल्याण सम्पादित हो सकेगा? किसे ज्ञात है, कौन सा आदर्श मनुष्य की पाशविकता को निर्वीर्य कर उस पर विजय पा सकेगा – सहिष्णुता अथवा क्रियाशीलता?

और इसलिए हमें एक दूसरे के आदर्शों को नष्ट करने की चेष्टा छोड़ देनी चाहिए। हम दोनों का लक्ष्य एक ही है – अशुभ का क्षय और नाश।

तुम अपनी प्रणाली के अनुसार कार्य करो और हमें अपने अनुसार करने दो। हम आदर्श नष्ट न करें। मैं पश्चिम से यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम हमारा मार्ग अपना लो। कभी नहीं। लक्ष्य एक है, किन्तु साधन-मार्ग कभी एक ही नहीं हो सकता। और इसलिए, भारत के आदर्शों की बात सुनकर मुझे आशा है; तुम भारत को सम्बोधन कर कहो, 'हम जानते हैं – हम दोनों का लक्ष्य और आदर्श एक ही है। तुम अपने आदर्श का अनुसरण करो। तुम अपने साधन-पथ पर प्रस्थान करो – ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें।' इस जीवन में पूर्व और पश्चिम दोनों को मेरा यही सन्देश है कि विभिन्न आदर्शों पर विवाद व्यर्थ है, लक्ष्य दोनों का एक ही है, वे एक दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न प्रतीत होते हों। और इसलिए जीवन के इन ऊँचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े रास्तों में, जीवन की इस चक्करदार भूलभूलैया के मार्ग पर चलते हुए, परस्पर मंगल-कामना करते हुए, परस्पर का अभिवादन कर कहें 'ईश्वर तुम्हारी लक्ष्य-सिद्धि में सहायक हो।' (७/१४५-४६)

३. नानात्व के बावजूद एकत्व को स्वीकार करना, प्रत्येक वस्तु के हमारे लिए भयप्रद प्रतीत होने के बावजूद अन्तःकरण में ईश्वर को स्वीकार करना, सभी प्रत्यक्ष दुर्बलताओं के बावजूद असीम बल को प्रत्येक का गुण स्वीकार करना और ऊपरी सतह के सभी विरोधाभासों के बावजूद आत्मा की शाश्वत, अनन्त और तात्त्विक पवित्रता को स्वीकार करना नीतिशास्त्र का कार्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा, न कि विविधता का विनाश करना और बाह्य जगत् में एकरूपता की स्थापना करना – जो असम्भव है, क्योंकि उससे मृत्यु तथा विनाश हो जायगा। इसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा। (९/११२)

४. जब हम नीतिशास्त्र पर विचार करते हैं, तो हमें बड़ा अंतर मिलता है। शायद यही एक विज्ञान है, जो इस संघर्ष का साहसपूर्ण अतिक्रमण करता है। क्योंकि नीतिशास्त्र एकता है; इसका आधार है प्रेम। वह इस विविधता पर दृष्टिपात नहीं करता। नीतिशास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है, यह एकत्व और यह एकरूपता। आज तक मानव जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते, उसकी खोज-बीन के निमित्त रुकने के लिए उनके पास समय नहीं है, उनका एक उद्देश्य बस वही एकरूपता लाना है। भारतीय मस्तिष्क – मेरा अभिप्राय वेदान्ती मस्तिष्क से है – अधिक विश्लेषक है और उसने समस्त विश्लेषण के परिणामस्वरूप इस एकत्व का पता लगाया और उसने एकत्व के इस एक भाव पर प्रत्येक वस्तु को आधारित करना चाहा। (९/१०९)

५. अतएव, कर्मयोग, निःस्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्ति-लाभ करने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास न करे, आत्मा के सम्बन्ध में न जानना चाहे, या किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका अपना लक्ष्य रहता है – निःस्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में यह उपलब्धि होनी चाहिए, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धान्त की सहायता लिए बिना ही अपनी इस समस्या का समाधान केवल कर्म द्वारा करना होता है, जब कि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने विचार और अन्तःप्रेरणा द्वारा तथा भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है। (३/८३-८४)

६. आजकल स्वर्णयुग की इसी भावना ने साम्य का – स्वाधीनता, साम्य व मैत्री का रूप धारण कर लिया है। यह भी एक धर्मान्धता है। यथार्थ साम्य न तो कभी संसार में हुआ है, और न कभी होने की आशा है। यहाँ हम सब समान हो ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार के असम्भव साम्य का फल तो मृत्यु ही होगा! (३/८६)

७. परन्तु फिर भी स्वर्णयुग को लाने की कल्पना एक प्रबल प्रेरक शक्ति है। जिस प्रकार सृष्टि के लिए विषमता आवश्यक है, उसी प्रकार उसे सीमित करने की चेष्टा भी नितान्त आवश्यक है। यदि मुक्ति एवं ईश्वर के पास लौट जाने की चेष्टा न हो, तो सृष्टि भी नहीं रह सकती। कर्म करने के पीछे मनुष्य का जो हेतु रहता है, वह इन दो शक्तियों के अन्तर से

ही निश्चित होता है। कर्म के प्रति ये प्रेरणाएँ सदा विद्यमान रहेंगी – कुछ बन्धन की ओर ले जायँगी और कुछ मुक्ति की ओर। (३/८७)

८. यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ लोगों में शारीरिक बल अधिक होगा और इस प्रकार स्वाभाविक है कि वे निर्बल को दबा देंगे या परास्त कर देंगे; परन्तु यह कानून नहीं कहता कि इस बल के कारण जीवन के सभी प्राप्य सुखों को वे स्वयं अपने में समेट लें, और संघर्ष इसीके विरुद्ध रहा है। यह स्वाभाविक है कि कुछ लोग स्वभावत: संक्षम होने के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक धन संग्रह कर लें; किन्तु धन प्राप्त करने के इस सामर्थ्य के कारण वे उन लोगों पर अत्याचार और अन्धाधुन्ध व्यवहार करें, जो उतना अधिक धन संग्रह करने में समर्थ न हों, तो यह कानून का अंग नहीं है, और संघर्ष इसके विरुद्ध हुआ है। अन्य के ऊपर सुविधा के उपभोग को विशेषाधिकार कहते हैं और इसका विनाश करना युग युग से नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यह कार्य ऐसा है, जिसकी प्रवृत्ति साम्य और एकत्व की ओर है तथा जिससे विविधता का विनाश नहीं होता। (९/१११)

९. परिवर्तन सदा 'अपने' ही अन्दर होता है। समस्त क्रमविकास में तुम सर्वत्र देखते हो कि प्राणी में परिवर्तन होने से ही प्रकृति पर विजय प्राप्त होती है। इस तत्त्व का प्रयोग धर्म और नीति में करो, तो देखोगे, यहाँ भी 'अशुभ पर जय' 'अपने' भीतर परिवर्तन के द्वारा ही होती है। सब कुछ 'अपने' ऊपर निर्भर रहता है। इस 'अपने' पर जोर देना ही अद्वैतवाद की वास्तविक दृढ़ भूमि है। 'अशुभ, दुःख' की बात कहना ही भूल है, क्योंकि बहिर्जगत् में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। इन सब घटनाओं में स्थिर भाव से रहने का यदि मुझे अभ्यास हो जाय, तो फिर क्रोधोत्पादक सैकड़ों कारण सामने आने पर भी मुझमें क्रोध का उद्रेक न होगा। इसी प्रकार, लोग मुझसे चाहे जितनी घृणा करें, पर यदि मैं उससे प्रभावित न होऊँ, तो मुझमें उनके प्रति घृणा-भाव उत्पन्न ही न होगा। (२/९२)

१०. शुभ या अशुभ मात्रा का तारतम्य है – आत्मा की अल्प या अधिक अभिव्यक्ति को लेकर। हमारे निज के जीवन का दृष्टान्त ही लो। बचपन में कितनी वस्तुओं को हम अच्छा समझते हैं, जो वास्तव में बुरी हैं; और कितनी वस्तुओं को हम बुरे रूप में देखते हैं, जो वास्तव में अच्छी हैं; हमारी धारणा का कैसा परिवर्तन होता है? एक भाव किस प्रकार उच्च से उच्चतर होता रहता है। हम एक समय जिसे बहुत अच्छा समझते थे, अब हम उसे उतना अच्छा नहीं मानते। इस प्रकार शुभ-अशुभ अंधविश्वास मात्र हैं और उनका अस्तित्व नहीं है। उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति तब होती है, जब सारा आच्छादन नष्ट हो जाता है। अंतर केवल मात्रा के तारतम्य में है। सब उस आत्मा का ही प्रकाश है। वह सबमें ही प्रकाशित हो रही है, केवल उसका प्रकाश स्थूल होने पर हम उसे अशुभ कहते हैं और सूक्ष्म होने पर शुभ कहते हैं। (७/१२९)

११. नीतिशास्त्र सदा कहता है – 'मैं नहीं, तू।' इसका उद्देश्य है – 'स्व नहीं, नि:स्व:'। इसका कहना है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनन्द को प्राप्त करने के क्रम में मनुष्य जिस निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपटा रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुमको दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती है, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है – 'अपने को सबसे अन्त में रखो।' इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। वह जो असीम है, उसकी अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती, ऐसा असम्भव है, अकल्पनीय है। (२/१९५-९६)

१२. सभी नीतिशास्त्रों का, अनपवाद रूप से, एक बड़ा दोष यह है कि उन्होंने उन साधनों का कभी उपदेश नहीं दिया, जिनके द्वारा मनुष्य बुरा करने से अपने को रोक सके। सभी नीतिशास्त्र कहते हैं कि 'चोरी मत करो।' ठीक है; लेकिन मनुष्य चोरी करता ही क्यों है? कारण यह है कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार आदि कुकर्म यांत्रिक सहज क्रियाएँ बन बैठे हैं। डाका डालनेवाले, चोर, झूठे तथा अन्यायी स्त्री-पुरुष – ये ऐसे इसलिए हो गये

हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ नहीं। सचमुच यह मनोविज्ञान के लिए एक बड़ी विकट समस्या है। मनुष्य की ओर हमें बड़ी उदारता की दृष्टि से देखना चाहिए। अच्छा बनना इतनी सरल बात नहीं है। जब तक तुम मुक्त नहीं होते, तब तक एक यंत्र के सिवा तुम और क्या हो? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिल्कुल नहीं। तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं। अगर तुम उसकी जगह होते, तो कौन जानता है कि तुम क्या होते? एक वेश्या या जेलबंद चोर मानो ईसा मसीह है, जो इसलिए सूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। प्रकृति में इसी तरह साम्यावस्था रहती है। सब चोर और खूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश और राक्षस मेरे लिए ईसा मसीह हैं! देवरूपी ईसा तथा दानवरूपी ईसा, दोनो ही मेरे लिए आराध्य हैं यही मेरा धर्म है, इससे अन्यथा मेरे बस की बात नहीं। अच्छे और साधु पुरुषों को मेरा प्रणाम! बदमाश और शैतानों को भी मेरा प्रणाम! वे सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे त्राता हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूँ, परन्तु सम्भव है, फिर उसीके दोषों से मेरा लाभ भी हो; दूसरे को मैं आशीर्वाद दूँ और उसके शुभ कर्मों से मेरा हित हो। यह सूर्य-प्रकाश के समान सत्य है। दुराचारी स्त्री को मुझे इसलिए दुत्कारना पड़ता है कि समाज वैसा चाहता है। आह, वह! वह मेरी तारिणी, जिसकी वेश्या-वृत्ति के ही कारण दूसरी स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित रहा, इसका विचार तो करो! भाइयो और बहनो, इस प्रश्न को जरा अपने मन में सोचो। यह सत्य है – बिल्कुल सत्य है। मैं जितनी ही अधिक दुनिया देखता हूँ, जितना ही अधिक स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आता हूँ, उतनी ही मेरी यह धारणा दृढ़तर होती जाती है। मैं किसे दोष दूँ? मैं किसकी तारीफ़ करूँ? हमें वस्तुस्थिति का सभी पक्षों से विचार करना चाहिए। (३/१२०)

□□□

५

हिन्दू

१. भारत में हिन्दुओं द्वारा कभी धार्मिक उत्पीड़न नहीं हुआ, बल्कि उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के प्रति अद्भुत आदर का भाव ही रखा। हिब्रू जाति के कुछ लोग जब स्वदेश से भगाये गये थे, तब हिन्दुओं ने उनको शरण दी, जिसके फलस्वरूप मलाबार के यहूदी अभी तक हैं। एक अन्य समय में उन्होंने नष्ट-प्राय ईरानियों के अवशिष्ट अंश का स्वागत अपने देश में किया; और वे लोग आज भी हमारे मध्य हमारे एक अंग और प्रीति-भाजन, बम्बई के आधुनिक पारसियों के रूप में विद्यमान हैं। ईसा मसीह के शिष्य सेन्ट थामस के साथ आने का दावा करनेवाले ईसाई लोगों को भी भारत में रहने तथा अपनी विचारधारा सुरक्षित रखने की अनुमति दी गयी। उन लोगों की एक बस्ती अब तक भारत में है। यह सहिष्णुता का भाव वहाँ न मरा है, न मरेगा, न मर सकता है। (९/१२०-२१)

२. सम्भव है कि तुम द्वैतवादी हो और मैं अद्वैतवादी। सम्भव है कि तुम अपने को भगवान् का नित्य दास समझते हो और दूसरा यह कहे कि मुझमें और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है, पर दोनों ही हिन्दू हैं और सच्चे हिन्दू हैं। यह कैसे सम्भव हो सका है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए उसी महावाक्य का स्मरण करो – एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। (५/१३)

३. हिन्दू मन की यह एक विशेषता है कि वह सदैव अंतिम संभाव्य सामान्यीकरण के लिए अनुसन्धान करता है, और बाद में विशेष पर कार्य करता है।

वेद में यह प्रश्न पूछा गया है, कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति? – 'ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है?'' इस प्रकार, हमारे जितने शास्त्र हैं, जितने दर्शन हैं, सबके सब उसीके निर्णय में लगे हुए हैं, जिनके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। (१/५९,६०)

४. हिन्दू लोग साहसी थे और उन्हें इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वे अपने सभी विचारों को बड़े साहस के साथ सोचते थे – इतने साहस के साथ कि उनके विचार की एक चिनगारी मात्र से पश्चिम के तथाकथित साहसी तत्त्ववेत्ता डर जाते हैं! इन आर्य मनीषियों के सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्स मूलर ने यह ठीक ही कहा है कि ये लोग इतनी अधिक ऊँचाई तक चढ़े, जहाँ केवल उनके ही फेफड़े साँस ले सकते थे, दूसरों के फेफड़े तो इतनी ऊँचाई में फट गये होते! जहाँ भी बुद्धि ले गयी, इन धीर पुरुषों ने उसका अनुरागपूर्वक अनुसरण किया – उसके लिए कोई त्याग उठा न रखा। सम्भव था कि इससे उनके हृदय के चिरपोषित अन्धविश्वास चूर चूर हो जाते, पर उन्होंने इसकी परवाह न की; यह भी परवाह न की कि समाज उनके सम्बन्ध में क्या सोचेगा, क्या कहेगा! वे तो साहसी थे। उन्होंने जिसे ठीक और सत्य समझा, उसीकी चर्चा की और प्रचार किया। (१/२४३)

५. प्राचीन हिन्दू लोग अद्भुत पण्डित थे – मानो जीवित विश्वकोष! वे कहते थे – 'विद्या यदि किताबों में ही रहे और धन यदि दूसरों के हाथ में रहे, तो कार्यकाल उपस्थित होने पर वह विद्या भी विद्या नहीं है और वह धन भी धन नहीं है।'* (७/५०)

६. हिन्दू धर्म में एक राष्ट्रीय भाव देखने को मिलेगा – वह है आध्यात्मिकता। और किसी धर्म में – संसार के किन्हीं अन्य धर्मग्रंथों में ईश्वर की परिभाषा करने में इतनी अधिक शक्ति लगायी गयी हो, ऐसा देखने को नहीं मिलता। उन्होंने आत्मा का आदर्श निर्दिष्ट करने की चेष्टा इस प्रकार

* पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।। चाणक्य नीति

की है कि कोई पार्थिव संस्पर्श इसको कलुषित नहीं कर सकता। आत्मा दिव्य है, और इस अर्थ से उसमें कभी मानवीय भाव आरोपित नहीं किया जा सकता। (३/१३६)

७. आर्य लोग सदैव अपनी आत्मा में ही ब्रह्म को खोजते रहे हैं। कालान्तर में उन लोगों की यह स्वाभाविक विशेषता बन गयी। और यह विशेषता उनकी कलाओं तथा उनके सामान्यतम व्यवहारों में भी अभिव्यंजित हुई। आज भी जब हम धार्मिक मुद्रा में बैठे किसी व्यक्ति का यूरोपीय चित्र देखते हैं, तो पाते हैं कि चित्रकार ने उसकी आँखों को ऊर्ध्वोन्मुख दिखाया है, मानो वह प्रकृति से बाहर, आकाश की ओर ईश्वर की खोज के लिए देख रहा हो। पर दूसरी ओर भारतवर्ष में धार्मिक प्रवृत्ति को साधक की बन्द आँखों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, मानो वह अपने भीतर देख रहा हो। (२/२३७)

८. जिस हिन्दू नाम से परिचित होना आजकल हम लोगों में प्रचलित है, इस समय उसकी कुछ भी सार्थकता नहीं है, क्योंकि उस शब्द का केवल यह अर्थ था – सिन्धुनद के पार बसनेवाले। प्राचीन फ़ारसियों के गलत उच्चारण से यह सिन्धु शब्द 'हिन्दू' हो गया है। वे सिन्धुनद के इस पार रहनेवाले सभी लोगों को हिन्दू कहते थे। इस प्रकार हिन्दू शब्द हमें मिला है। फिर मुसलमानों के शासनकाल से हमने अपने आप यह शब्द अपने लिए स्वीकार कर लिया था। (५/१९)

९. तुम हिन्दू हो और इसलिए तुम्हारा यह सहज विश्वास है कि तुम अनन्त काल तक रहनेवाले हो। कभी कभी मेरे पास नास्तिकता के विषय पर वार्तालाप करने के लिए कुछ युवक आया करते हैं। पर मेरा विश्वास है कि कोई हिन्दू नास्तिक नहीं हो सकता। सम्भव है कि किसीने पाश्चात्य ग्रन्थ पढ़े हों और अपने को भौतिकवादी समझने लग गया हो। पर ऐसा केवल कुछ समय के लिए होता है। यह बात तुम्हारे खून के भीतर नहीं है। जो बात तुम्हारी रग रग में रमी हुई है, उसे तुम निकाल नहीं सकते और न उसकी जगह और किसी धारणा पर तुम्हारा विश्वास ही हो सकता

है। इसीलिए वैसी चेष्टा करना व्यर्थ होगा। मैंने भी बाल्यावस्था में ऐसी चेष्ट की थी, पर वैसा नहीं हो सकता। (५/१९७)

□□□

६

भारत की विशेषताएँ

१. संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है। यदि भिन्न भिन्न देशों की पारस्परिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवं निरीह भारत का जितना ऋणी है, उतना और किसी देश का नहीं। (५/५)

२. जो लोग आँखें खोले हुए हैं, जो पाश्चात्य जगत् की विभिन्न राष्ट्रों के मनोभावों को समझते हैं, जो विचारशील हैं तथा जिन्होंने भिन्न भिन्न राष्ट्रों के विषय में विशेष रूप से अध्ययन किया है, वे देख पायेंगे कि भारतीय चिन्तन के इस धीर और अविराम प्रवाह के सहारे संसार के भावों, व्यवहारों, पद्धतियों और साहित्य में कितना बड़ा परिवर्तन हो रहा है। (५/१०)

३. प्रत्येक जाति का भी उसी तरह किसी न किसी तरफ़ विशेष झुकाव हुआ करता है। मानो प्रत्येक जाति का एक एक विशेष जीवनोद्देश्य हुआ करता है। हर एक जाति को समस्त मानव जाति के जीवन को सर्वांग सम्पूर्ण बनाने के लिए किसी व्रत विशेष का पालन करना होता है। अपने व्रत विशेष को पूर्णत: सम्पन्न करने के लिए मानो हर एक जाति को उसका उद्यापन करना ही पड़ेगा। राजनीतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में हमारी जाति का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न इस समय ही है और यह भी याद रखो कि न तो वह कभी आगे ही होगा। हाँ, हमारा दूसरा ही जातीय जीवनोद्देश्य रहा है। वह यह है कि समग्र जाति की आध्यात्मिक शक्ति को मानो किसी डाइनेमो में संगृहीत, संरक्षित और

नियोजित किया गया हो और कभी मौका आने पर वह संचित शक्ति सारी पृथ्वी को एक जलप्लावन में बहा देगी। (५/८,९)

४. समस्त मानवीय प्रगति में शान्तिप्रिय हिन्दू जाति का कुछ अपना योगदान भी है और आध्यात्मिक आलोक ही भारत का वह दान है। (५/९)

५. धार्मिक अन्वेषणों द्वारा हमें इस सत्य का पता चलता है कि उत्तम आचरण-शास्त्र से युक्त कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसने उसका कुछ न कुछ अंश हमसे न लिया हो, तथा कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसमें आत्मा के अमरत्व का ज्ञान विद्यमान है, और उसने भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वह हमसे ही ग्रहण नहीं किया है। (५/३६)

६. राजनीति सम्बन्धी विद्या का विस्तार रणभेरियों और सुसज्जित सेनाओं के बल पर किया जा सकता है। लौकिक एवं समाज सम्बन्धी विद्या का विस्तार आग और तलवारों के बल पर हो सकता है। पर आध्यात्मिक विद्या का विस्तार तो शान्ति द्वारा ही सम्भव है। जिस प्रकार चक्षु और कर्णगोचर न होता हुआ भी मृदु ओस-बिन्दु गुलाब की कलियों को विकसित कर देता है, बस वैसा ही आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के सम्बन्ध में भी समझो। यही एक दान है, जो भारत दुनिया को बार बार देता आया है। (५/११७)

७. जब कभी भी कोई दिग्विजयी जाति उठी, जिसने संसार के विभिन्न देशों को एक साथ ला दिया और आपस में यातायात तथा संचार की सुविधा कर दी, त्यों ही भारत उठा और उसने संसार की समग्र उन्नति में अपने आध्यात्मिक ज्ञान का भाग भी प्रदान कर दिया। (५/११७-१८)

८. भारतीय विचार का सबसे बड़ा लक्षण है, उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता। जो प्रभूत शक्ति इसके पीछे है, उसका प्रकाश जबरदस्ती से नहीं होता। (५/१६८)

९. अनदेखे और अनसुने गिरनेवाला कोमल ओस कण जिस प्रकार सुन्दरतम गुलाब की कलियों को खिला देता है, वैसा ही असर भारत के दान का संसार की विचारधारा पर पड़ता रहता है। शांत अज्ञेय किन्तु महाशक्ति के अदम्य बल से, उसने सारे जगत् की विचार-राशि में क्रान्ति मचा दी है – एक नया ही युग खड़ा कर दिया है; किन्तु तो भी कोई नहीं जानता, कब ऐसा हुआ। (५/१६८)

१०. मैं चुनौती देता हूँ कि कोई भी व्यक्ति भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई भी ऐसा काल मुझे दिखा दे, जिसमे यहाँ समस्त संसार को हिला देने की क्षमता रखनेवाले आध्यात्मिक महापुरुषों का अभाव रहा हो। (९/३००)

११. हमारी इस मातृभूमि में इस समय भी धर्म और अध्यात्म विद्या का जो स्रोत बहता है, उसकी बाढ़ समस्त जगत् को आप्लावित कर, राजनीतिक उच्चाभिलाषाओं एवं नवीन सामाजिक संगठनों की चेष्टाओं में प्राय: समाप्तप्राय, अर्धमृत तथा पतनोन्मुखी पाश्चात्य और दूसरी जातियों में नव-जीवन का संचार करेगी। (५/४५)

१२. क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होंगी और मानवात्मा उनकी बलिसामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। क्रियाशक्ति की अपेक्षा सहनशक्ति कई गुना बड़ी होती है। प्रेम का बल घृणा के बल की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। (९/३७७)

१३. यहाँ ऐसे मनुष्य रह सकते हैं, जिनका मस्तिष्क पश्चिमी विलासिता के आदर्श से विकृत हो गया है, यहाँ ऐसे हजारों नहीं, लाखों मनुष्य रह सकते हैं, जो विलास मद में चूर हो रहे हैं, जो पश्चिम के शाप में – इन्द्रिय-परतन्त्रता में – संसार के शाप में डूबे हुए हैं, किन्तु इतने पर भी हमारी मातृभूमि में हजारों ऐसे भी होंगे, धर्म जिनके लिए शाश्वत सत्य है और जो जरूरत पड़ने पर फलाफल का विचार किये बिना ही सब कुछ त्याग देने के लिए सदा तैयार हो जायँगे। (५/२३५)

१४. भारतीय जीवन-रचना का यही प्रतिपाद्यं विषय है, उसके अनन्त संगीत का यही दायित्व है, उसके अस्तित्व का यही मेरुदण्ड है, उसके जीवन की यही आधारशिला है, उसके अस्तित्व का एकमात्र हेतु – मानव जाति का आध्यात्मीकरण। अपने इस लम्बे जीवन-प्रवाह में भारत अपने इस मार्ग से कभी भी विचलित नहीं हुआ, चाहे तातारों का शासन रहा हो और चाहे तुर्कों का, चाहे मुगलों ने राज्य किया हो और चाहे अंग्रेज़ों ने। (९/३००)

१५. "हमारी कार्य-विधि बहुत सरलता से बतायी जा सकती है। वह केवल राष्ट्रीय जीवन को पुन: स्थापित करना है।

भेद यहाँ है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं: त्याग और सेवा। आप इसकी इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न कीजिए, और शेष सब अपने आप ठीक हो जायगा। इस देश में आध्यात्मिकता का झंडा कितना ही ऊँचा क्यों न किया जाय, वह पर्याप्त नहीं होता। केवल इसीमें भारत का उद्धार है।" (४/२६५)

१६. हमारा पवित्र भारतवर्ष धर्म एवं दर्शन की पुण्य-भूमि है। यहीं बड़े बड़े महात्माओं तथा ऋषियों का जन्म हुआ है, यहीं संन्यास एवं त्याग की भूमि है तथा यहीं, केवल यहीं, आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च आदर्श का द्वार खुला हुआ है। (५/३५)

१७. यद देश दर्शन, धर्म, आचरण-शास्त्र, मधुरता, कोमलता और प्रेम की मातृभूमि है।

मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इन बातों में पृथ्वी के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा भारत अब भी श्रेष्ठ है। (५/४३)

□□□

७

भारत की अवनति के कारण

१. हमारी दृष्टि में भारत के लिए कई आपदाएँ खड़ी हैं। इनमें से दी स्काइला और चेरीबाइर्डिस से, घोर भौतिकवाद और इसकी प्रतिक्रिया से पैदा हुए घोर कुसंस्कार से अवश्य बचना चाहिए। आज हमें एक तरफ़ वह मनुष्य दिखायी पड़ता है, जो पाश्चात्य ज्ञान रूपी मदिरा-पान से मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाया करता है। उसके लिए हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज हैं, हिन्दू दर्शन-शास्त्र बच्चों का कलरव मात्र है और हिन्दू धर्म मूर्खों का मात्र अंधविश्वास। दूसरी तरफ़ वह आदमी है, जो शिक्षित तो है, पर जिस पर किसी एक चीज की सनक सवार है और वह उल्टी राह लेकर हर एक छोटी सी बात का अलौकिक अर्थ निकालने की कोशिश करता है। अपनी विशेष जाति या देव-देवियों या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले जितने कुसंस्कार हैं, उनको उचित सिद्ध करने के लिए दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहानेवाले न जाने क्या क्या अर्थ उसके पास सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिए प्रत्येक ग्राम्य कुसंस्कार वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उसे कार्य रूप में परिणत करने पर ही जातीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन सबसे बचना चाहिए। (५/१७१-७२)

२. पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं, और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मतमतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं – पहला दोष हमारी दुर्बलता

है, दूसरा है घृणा करना, हृदयहीनता। लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं, जब तक तुम और वे – धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी उसी एक अनन्त पूर्ण के, जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ न होगा। (५/३२२)

३. "मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा है, और वह भी हमारे पतन का कारण है। हम कितनी ही राजनीति बरतें, उससे उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि भारत का जनसमुदाय एक बार फिर सुशिक्षित, सुपोषित और सुपालित नहीं होता। (४/२६०-६१)

४. यदि तुम लोगों को पीसोगे तो तुम्हें भी भुगतना पड़ेगा। भारत में हम लोग ईश्वर के प्रतिशोध को भोग रहे हैं। इन चीज़ों को देखो। उन लोगों ने अपने निजी लाभ के लिए गरीबों को पीसा, उन्होंने उनकी कातर ध्वनि नहीं सुनी, जब जनता रोटी के लिए पुकार रही थी, तब वे सोने और चाँदी के पात्रों में खाते थे और (इसके बाद ही) मुसलमानों ने वध और हत्या करते हुए आक्रमण किया; वध और हत्या करते हुए उन्हें पराभूत कर दिया। वर्षों तक भारत बार बार पराजित होता रहा और उन सबके अन्त में तथा सबसे बुरे, अंग्रेज आये। तुम भारत में देखो, हिन्दुओं ने क्या छोड़ा? चारों और आश्चर्यजनक मंदिर। मुसलमानों ने क्या छोड़ा? भव्य भवन। अंग्रेजों ने क्या छोड़ा? शराब की टूटी बोतलों के टीलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ईश्वर ने मेरे देशवासियों के ऊपर दया नहीं की, क्योंकि स्वयं उनमें दया नहीं थी। अपनी निष्ठुरता से उन्होंने जनता को नीचे गिराया और जब उन्हें उनकी आवश्यकता पड़ी, तब उस जनता में उनकी सहायता करने के निमित्त कुछ शेष ही नहीं रह गया था। मनुष्य को ईश्वर के प्रतिशोध में भले ही विश्वास न हो सके, किंतु, वह इतिहास के प्रतिशोध को कदापि अस्वीकार नहीं कर सकता। (८/२८७-८८)

५. तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है – आचरण में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता, हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा। (५/१३७)

६. तुम लोगों में Organisation (संगठन) की शक्ति का एकदम अभाव है। वही अभाव सब अनर्थों का मूल है। मिल-जुलकर कार्य करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। Organisation के लिए सबसे पहले obedience (आज्ञा-पालन) की आवश्यकता है। (४/३११)

७. स्वयं कुछ करना नहीं और यदि दूसरा कोई कुछ करना चाहे, तो उसका मख़ौल उड़ाना हमारी जाति का एक महान् दोष है और इसी से हमारी जाति का सर्वनाश हुआ है। हृदयहीनता तथा उद्यम का अभाव सब दुःखों का मूल है। अतः उन दोनों को त्याग दो। किसके अन्दर क्या है, प्रभु के बिना कौन जान सकता है? सभी को अवसर मिलना चाहिए। आगे प्रभु की इच्छा। (४/३८०)

८. जो लोग सदैव अपने अतीत की ही ओर दृष्टि लगाये रखते हैं, आजकल सभी लोग उनकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दुःख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। किन्तु मेरी तो यह धारणा है कि इसका विपरीत ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा। (९/३५३)

९. हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है।

भारत की अवनति इसलिए नहीं हुई कि हमारे पूर्व पुरुषों के नियम एवं आचार-व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचारव्यवहारों को उनकी न्यायसंगत परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया। (९/३५३)

१०. सुख-दुःख से परे हम क्रियाहीन, शान्त, सात्त्विक अवस्था में हैं अथवा शक्ति के अभाव से प्राणहीन, जड़वत् क्रियाहीन, महातामसिक अवस्था में पड़े हुए धीरे धीरे चुपचाप सड़ रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर दो और अपने मन से पूछो। (१०/५४)

११. कोई मनुष्य, कोई जाति, दूसरों से घृणा करते हुए जी नहीं सकती। भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका, जब उसने इस म्लेच्छ शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से अपना नाता तोड़ दिया। खबरदार, जो तुमने इस विचार की पुष्टि की! वेदान्त की बातें बघारना तो खूब सरल है, पर इसके छोटे से छोटे सिद्धान्तों को काम में लाना कितना कठिन है! (३/३२४)

१२. पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीच जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं। (१/४०३-४)

१३. मेरी समझ में भारतवर्ष के पतन और अवनति का एक प्रधान कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक दीवार खड़ी कर देना था, जिसकी भित्ति दूसरों की घृणा पर स्थापित थी, और जिनका यथार्थ उद्देश्य प्राचीन काल में हिन्दू जाति को आसपासवाली बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखता था।

प्राचीन या नवीन तर्कजाल इसे चाहे जिस तरह ढाँकने का प्रयत्न करे, पर इसका अनिवार्य फल – उस नैतिक साधारण नियम के औचित्य के अनुसार कि कोई भी बिना अपने को अधःपतित किये दूसरों से घृणा नहीं कर सकता – यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी, उसका नाम पृथ्वी की जातियों में घृणासूचक साधारण एक शब्द सा हो गया है। हम उस सार्वभौमिक नियम की अवहेलना के परिणाम के प्रत्यक्ष दृष्टान्तस्वरूप हो गये हैं, जिसका हमारे ही पूर्वजों ने पहले-पहल आविष्कार और विवेचन किया था। (३/३३१-३२)

□□□

८

भारत के पुनरुत्थान के उपाय

१. हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निन्दा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न! उस मूर्खोचित बात को मान लेनेपर भी यह कहना पड़ेगा कि सारे भारतवर्ष में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा? क्यों कोई भूखों मरे? मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को जीत सकना कैसे सम्भव हुआ? यह हिन्दुओं के भौतिक सभ्यता का निरादर करने के कारण ही हुआ।

भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासमयता की भी जरूरत होती है – क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान्, जो मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वही स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा! राम कहो! भारत को उठाना होगा गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों का निराकरण करना होगा। पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे! सब के लिए अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती रहे।

हमें वह अवस्था धीरे धीरे लानी पड़ेगी – अपने धर्म पर अधिक बल देते हुए और समाज को स्वाधीनता देते हुए। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को एक बार उखाड़ दो, तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा

धर्म उपलब्ध हो जायगा। मेरी बात समझते हो न? भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा। (३/३३४)

२. यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। देखा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं, उसके बाद उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ पर भी उसी प्रकार होगा। देखता नहीं है, पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। (६/१२८-२९)

३. तुम लोग इसी समय कमर कसकर तैयार हो जाओ। ...

तुम लोगों का अब काम है प्रान्त प्रान्त में, गाँव गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्य से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षा-विहीन, धर्म-विहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो – 'भाई, सब उठो, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो।

सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार – और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार! (६/१२९)

४. भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे, धर्म ही इस जाति का साधारण उत्तराधिकार एवं जन्मसिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को हर एक आदमी के दरवाजे तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। ईश्वर के राज्य में जिस प्रकार वायु सबके लिए समान रूप से प्राप्त होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। भारत में इसी प्रकार का कार्य करना होगा। पर छोटे छोटे दल बाँध आपसी मतभेदोंपर विवाद करते रहने से नहीं बनेगा; हमें तो उन बातों का प्रचार करना होगा, जिनमें

हम सब सहमत हैं और तब आपसी मतभेद आप ही आप दूर हो जायँगे। मैंने भारतवासियों से बारम्बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार!', 'भयंकर अन्धकार!!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नहीं। (५/२७४-७५)

५. इन दो चीजों से बचे रहना – अधिकार-लालसा और ईर्ष्या। सदा आत्मविश्वास का अभ्यास करना। (३/३२४)

६. पहले अन्य देशों में जाओ – अपनी आँखों से देखकर, दूसरों की आँखों के सहारे नहीं – उनकी अवस्था और रहन-सहन का अध्ययन करो।

फिर अपने शास्त्रों और पुराने साहित्य को पढ़ो और समस्त भारत की यात्रा करो तथा विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले अधिवासियों के चाल-चलन, आचार-विचार का विस्तीर्ण दृष्टि और उन्नत मस्तिष्क से बेवकूफों की तरह नही – विचार करो; तब समझ सकोगे कि जाति अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गयी है। और देखोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। तुम्हारी राजनीति, समाजनीति, रास्ते की सफ़ाई, प्लेगनिवारण, दुर्भिक्षपीड़ितों को अन्नदान आदि आदि चिरकाल से इस देश में जैसे हुआ है, वैसे ही होगा – अर्थात् धर्म के द्वारा यदि होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। तुम्हारे रोने-चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा। (१०/६०-६१)

७. भारत का बाहर के देशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा काम नही चल सकता। किसी समय हम लोगों ने जो इसके विपरीत सोचा था, वह हमारी मूर्खता मात्र थी और उसीकी सज़ा का फल है कि हजारों वर्षों से हम दासता के बन्धनों में बँध गये हैं। हम लोग दूसरी जातियों से अपनी तुलना करने के लिए विदेश नहीं गये और हमने संसार की गति पर ध्यान रखकर चलना नहीं सीखा। यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण। हमें यथेष्ट सजा मिल चुकी, अब हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। (५/१६६)

८. हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। जमीन में बीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो; जब वह बीज अंकुरित होकर कालान्तर में एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी बन जाता है, या हवा या पानी? नहीं, वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है – मिट्टी, हवा और पानी से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो – औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। (५/२७३)

९. लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर, भगवान् के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान सांहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के संदेश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे। (१/४०३)

१०. आशा तुम लोगों से है – जो बिनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं। ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ नहीं होता। दु:खियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी। मैं बारह वर्ष तक हृदय पर यह बोझ लादे और सर में यह विचार लिए बहुत से तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर दर घूमा। हृदय का रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस अजनबी देश में सहायता माँगने आया। परन्तु भगवान् अनन्त शक्तिमान है – मैं जानता हूँ, वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु, युवको! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी (भगवान् कृष्ण) के मन्दिर में, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा

थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार-काल में अमीरों का निमन्त्रण अस्वीकार कर एक वारांगना के भोजन का निमन्त्रण स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महा बलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो – उन दीनहीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान् युग युग में अवतार लिया करते हैं, और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनोंदिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। (१/४०४)

११. भारत तभी जागेगा जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरन्तर नीचे डूबते जा रहे हैं। मैंने अपने जैसे क्षुद्र जीवन में अनुभव कर लिया है कि उत्तम लक्ष्य, निष्कपटता और अनन्त प्रेम से विश्व-विजय की जा सकती है। ऐसे गुणों से सम्पन्न एक भी मनुष्य करोड़ों पाखण्डी एवं निर्दयी मनुष्यों की दुर्बुद्धि को नष्ट कर सकता है। (६/३०७)

१२. तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, जाली, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दूकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से। इन लोगों ने सहस्र सहस्र वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है, – उससे पायी है अपूर्व सहिष्णुता। सनातन दु:ख उठाया, जिससे पायी है अटल जीवनी शक्ति। ये लोग मुट्ठी भर सत्तू खाकर दुनिया उलट दे सकेंगे। आधी रोटी मिली तो तीनों लोक में इतना तेज न अटेगा? ये रक्तबीज के प्राणों से युक्त हैं। और पाया है सदाचार-बल, जो तीनों लोक में नहीं है। इतनी शान्ति, इतनी प्रीति, इतना प्यार, बेजबान

रहकर दिन-रात इतना खटना और काम के वक्त सिंह का विक्रम!! अतीत के कंकाल-समूह! – यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत। वे तुम्हारी रत्नपेटिकाएँ, तुम्हारी मणि की अँगूठियाँ – फेंक दो इनके बीच; जितना शीघ्र फेंक सको, फेंक दो; और तुम हवा में विलीन हो जाओ, अदृश्य हो जाओ, सिर्फ कान खड़े रखो। तुम ज्योंही विलीन होगे, उसी वक्त सुनोगे, कोटिजीमूतस्यन्दिनी, त्रैलोक्यकंपनकारिणी भावी भारत की उद्बोधन ध्वनि 'वाह गुरु की फ़तह!' (८/१६७-६८)

१३. यह घृण्य वामाचार छोड़ो, जो देश का नाश कर रहा है। तुमने भारत के अन्यान्य भाग नहीं देखे। जब मैं देखता हूँ कि हमारे समाज में कितना वामाचार फैला हुआ है, तब अपनी संस्कृति के समस्त अहंकार के साथ यह (समाज) मेरी नज़रों में अत्यन्त गिरा हुआ स्थान मालूम होता है। इन वामाचार सम्प्रदायों ने मधुमक्खियों की तरह हमारे बंगाल के समाज को छा लिया है। वे ही जो दिन में गरज कर आचार के सम्बन्ध में प्रचार करते हैं, रात को घोर पैशाचिक कृत्य करने से बाज नहीं आते, और अति भयानक ग्रन्थसमूह उनके कर्म के समर्थक हैं। घोर दुष्कर्म करने का आदेश उन्हें ये शास्त्र देते हैं। तुम बंगालियों को यह विदित है। बंगालियों के शास्त्र वामाचार-तंत्र हैं। ये ग्रन्थ ढेरों प्रकाशित होते हैं, जिन्हें लेकर तुम अपनी सन्तानों के मन को विषाक्त करते हो, किन्तु उन्हें श्रुतियों की शिक्षा नहीं देते। ऐ कलकत्तावासियो, क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि अनुवादसहित वामाचार-तंत्रों का यह बीभत्स संग्रह तुम्हारे बालकों और बालिकाओं के हाथ रखा जाय, उनका चित्त विषविह्वल हो और वे जन्म से यही धारणा लेकर पलें कि हिन्दुओं के शास्त्र ये वामाचार ग्रन्थ हैं? यदि तुम लज्जित हो तो अपने बच्चों से उन्हें अलग करो, और उन्हें यथार्थ शास्त्र, वेद, गीता, उपनिषद् पढ़ने दो। (५/२३१-३२)

१४. क्या आप कोई ऐसी बात बता सकते हैं, जिसके कारण भारत आर्य राष्ट्रों में निचले स्थान पर पड़ा रहे? क्या वह बुद्धि में मन्द है? क्या वह कौशल में कम है? आप उसकी कला को देखिए, उसके गणित को

देखिए, उसके दर्शन को देखिए, और फिर कहिए कि क्या आप मेरे प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' कह सकते हैं? केवल इस बात की आवश्यकता है कि वह सम्मोह को दूर करे, युगों की निद्रा से जाग जाय और राष्ट्रों की पंक्ति में अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करे।" (४/२६४)

१५. इस समय चाहिए – गीता में भगवान ने जो कहा है – प्रबल कर्मयोग – हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति। तभी तो देश में सब लोग जाग उठेंगे, नहीं तो जिस अन्धकार में तुम हो, उसीमें वे भी रहेंगे। (६/१५८)

१६. मेरा मत क्या है, जानते हो? उक्त प्रकार से हम लोग वेदान्त धर्म का गूढ़ रहस्य पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके उन महा शक्तिशाली राष्ट्रों की श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करेंगे और आध्यात्मिक विषय में सर्वदा उनके गुरुस्थानीय बने रहेंगे। दूसरी ओर वे अन्यान्य ऐहिक विषयों में हमारे गुरु बने रहेंगे। जिस दिन भारतवासी धर्म शिक्षा के लिए पाश्चात्यों के क़दमों पर चलेंगे उसी दिन इस अध:पतित जाति का जातित्व सदा के लिए नष्ट हो जायगा। 'हमें यह दे दो, हमें वह दे दो', ऐसे आन्दोलन से सफलता प्राप्त नहीं होगी। वरन उपर्युक्त आदान-प्रदान के फलस्वरूप जब दोनों पक्षों में पारस्परिक श्रद्धा और सहानुभूति का आकर्षण पैदा होगा, तब अधिक चिल्लाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वे स्वयं हमारे लिए सब कुछ कर देंगे। मेरा विश्वास है कि वेदान्त धर्म की चर्चा और वेदान्त का सर्वत्र प्रचार होने से हमारा तथा उनका दोनों का ही विशेष लाभ होगा। इसके सामने राजनीतिक चर्चा मेरी समझ में निम्न स्तर का उपाय है। अपने इस विश्वास को कार्य में परिणत करने के लिए मैं अपने प्राण तक दे दूँगा। आप यदि समझते हैं कि किसी दूसरे उपाय से भारत का कल्याण होगा तो आप उसी उपाय का अवलम्बन ग्रहण कर आगे बढ़ते जाइए। (६/९-१०)

१७. कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपटता को रोक नहीं सकते। क्या तुम निष्कपट हो? मरते दम तक नि:स्वार्थ? और प्रेमपरायण? तब डरो नहीं, मृत्यु को भी नहीं। आगे बढ़ो। सारा संसार आलोक चाहता है। उसे

बड़ी आशा है। एकमात्र भारत ही में यह आलोक है। यह रहस्यपूर्ण निरर्थक धार्मिक अनुष्ठानों में या छल कपट में नहीं है। यह उन उपदेशों में है जो यथार्थ धर्म के सारतत्त्व की महिमा की शिक्षा देती हैं – सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व की शिक्षा देती हैं। यही कारण है कि प्रभु ने इस जाति को इसके इतने सारे उतार-चढ़ावों के बावजूद आज भी सुरक्षित रखा है। अब समय आ उपस्थित हुआ है। मेरे वीरहृदय युवकों, यह विश्वास रखो कि अनेक महान् कार्य करने के लिए तुम सब का जन्म हुआ है। कुत्तों के भूँकने से न डरो, नहीं, स्वर्ग के वज्र से भी न डरो। उठ खड़े हो जाओ। और कार्य करते चलो। (२/३९६)

१८. जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशेष आकार धारण कर लेंगे। परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान् पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। देर-सबेर मैं आ ही रहा हूँ। 'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति' – इसे अपना आदर्श-वाक्य बना लो।

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा हुआ है; परन्तु हाय! उन लोगों के लिए कभी किसीने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पति की संख्या पर निर्भर नहीं, वरन् 'आम जनता की अवस्था' पर निर्भर है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो? क्या उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति को नष्ट किये, उन्हें वापस दिला सकते हो? क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल, पौरुष में तुम पाश्चात्यों

के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसीके साथ-साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अंत:प्रेरणा व अध्यात्म-साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही। तुम सबने इसीके लिए जन्म लिया है। अपने आप पर विश्वास रखो। दृढ़ धारणाएँ महत् कार्यों की जननी हैं। हमेशा बढ़ते चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति – यही हमारा मंत्र है। (२/३२१-२२)

१९. अब प्रयोजन है गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की, धनुषधारी श्रीरामचन्द्र की, महावीर की, माँ काली की पूजा की। इसीसे लोग महा उद्यम के साथ कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने बहुत अच्छी तरह विचार करके देखा है कि वर्तमान काल में जो धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत लोग पाशवी दुर्बलता से भरे हुए हैं, विकृतमस्तिष्क हैं अथवा उन्मादग्रस्त। बिना रजोगुण के तेरा अब न इहलोक है और न परलोक। घोर तमोगुण से देश भर गया है। फल भी उसका वैसा ही हो रहा है – इस जीवन में दासत्व और परलोक में नरक। (६/१७)

२०. देशभक्त बनो – जिस जाति ने अतीत में हमारे लिए इतने बड़े बड़े काम किये हैं, उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी समझो। हे स्वदेशवासियों! मैं संसार के अन्यान्य राष्ट्रों के साथ अपने राष्ट्र की जितनी ही अधिक तुलना करता हूँ, उतना ही अधिक तुम लोगों के प्रति मेरा प्यार बढ़ता जाता है। तुम लोग शुद्ध, शान्त और सत्स्वभाव हो, और तुम्हीं लोग सदा अत्याचारों से पीड़ित रहते आये हो – इस मायामय जड़ जगत् की पहेली ही कुछ ऐसी है। जो हो, तुम इसकी परवाह मत करो! अन्त में आत्मा की ही जय अवश्य होगी। इस बीच आओ हम काम में संलग्न हो जायँ। केवल देश की निन्दा करने से काम नहीं चलने का। हमारी इस परम पवित्र मातृभूमि के काल-जर्जर कर्मजीर्ण आचारों और प्रथाओं की निन्दा मत करो। (५/९५)

□□□

९

एकत्व

१. 'जो सर्वव्यापी, अप्रमेय, निर्गुण, निर्विकार और जगत् का महाकवि है, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र जिसके छन्द हैं, वह प्रत्येक को उसका उचित भाग (फल) देता है।' (९/१३१)

२. इस बहुत्वपूर्ण जगत् में जो उस एक को, इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील को अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है, अपना स्वरूप समझता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, उसीने लक्ष्य की प्राप्ति की है। (२/१३१)

३. 'जो इस बहुत्वपूर्ण जगत् में उस एक अखण्डस्वरूप को देखते हैं, जो इस मर्त्य जगत् में उस एक अनन्त जीवन को देखते हैं, जो इस जड़ता और अज्ञान से पूर्ण जगत् में उस एक प्रकाश और ज्ञानस्वरूप को देखते हैं, उन्हींको चिर शान्ति मिलती है, अन्य किसीको नहीं, अन्य किसीको नहीं।' (२/७२)

४. 'जो एक है, सब का नियन्ता और सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है, उसका दर्शन जो ज्ञानी पुरुष अपने में करते हैं, वे ही नित्य सुखी हैं अन्य नहीं।' नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्। (२/१४१)

५. मात्र एक ही सत्ता है तथा वह एक सत्ता ही विभिन्न मध्यवर्ती वस्तुओं के मध्य से होकर दिखायी पड़ने पर, वही पृथिवी अथवा स्वर्ग

अथवा नरक अथवा ईश्वर अथवा भूत-प्रेत अथवा मानव अथवा दैत्य अथवा जगत् अथवा वह सब कुछ प्रतीत होती है। किन्तु इन सब विभिन्न वस्तुओं में – 'जो इस मृत्यु के सागर में उस एक का दर्शन करता है, जो इस संतरणशील विश्व में उस एक जीवन का दर्शन करता है, जो उस अपरिवर्तनशील का साक्षात्कार करता है, उसीको चिरंतन शांति की उपलब्धि होगी, किसी अन्य को नहीं, किसी अन्य को नहीं।' (६/२९५)

६. जब तक सारे संसार को साथ साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जायगा, तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। और दिन प्रति दिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ़ जातीय, राष्ट्रीय या किन्हीं संकीर्ण भूमियों पर नहीं टिक सकती। (५/१६३)

७. तुम्हारे अन्दर जो परमात्मा है, वही परमात्मा सबमें है। यदि तुमने यह न जाना, तो कुछ न जाना। भेद हो कैसे सकता है? यह सब तो एक है। प्रत्येक प्राणी सर्वोच्च प्रभु का मन्दिर है। यदि तुम उसे देख सके, तो ठीक है और यदि नहीं देख सके, तो तुममें आध्यात्मिकता अभी तक नहीं आयी। (९/१०६)

८. अपनी पूजा के समय परमात्मा के पितृ-भाव को स्वीकार कर लेने से ही क्या लाभ, जब हम अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न मान सकें? (१/२५७)

९. प्रत्येक मानवीय व्यक्तित्व की तुलना काँच की चिमनी से की जा सकती है। प्रत्येक के अन्तराल में वही शुभ्र ज्योति है – दिव्य परमात्मा की आभा – पर काँच के रंगों और उसकी मोटाई के अनुरूप उससे विकीर्ण होनेवाली ज्योति की किरणें विभिन्न रूप ले लेती हैं। (१/२५७)

१०. विश्व में कहीं भी कोई अशुभ हो, उसके लिए प्रत्येक उत्तरदायी है। जो क्रियाएँ विश्व से एकत्व स्थापित करें, वे पुण्य हैं और जो विभेद स्थापित करें, वे पाप हैं। तुम उस अनंत के ही एक अंश हो। यही तुम्हारा स्वभाव है। अतः तुम अपने भाई के रक्षक हो।

जब तक हर प्राणी (चींटी या कुत्ता भी) मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक कोई भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते, कोई भी सुखी नहीं हो सकता। जब तुम किसीको क्षति पहुँचाते हो, तो अपने आपको ही क्षति पहुँचाते हो, क्योंकि तुम और तुम्हारा भाई एक ही हैं। (२/२५४)

११. विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु। (३/३३२)

१२. मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता, और जब कभी भी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा से ऐसा प्रयत्न किया गया है, उसका परिणाम उस पृथक् होनेवाले पक्ष के लिए सदैव घातक सिद्ध हुआ। (३/३३१)

□□□

१०

धर्म

१. शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। (२/३२८)

२. जिस प्रकार बहुत सी नदियाँ, जिनका उद्गम विभिन्न पर्वतों से होता है, टेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में समुद्र ही में गिरती हैं, उसी प्रकार ये सभी विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म, जो विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से प्रकट होते हैं, सीधे या टेढ़े मार्गों से चलते हुए भी अन्तत: तुम्हीं को प्राप्त होते हैं। (९/१२०)

३. किसी एक धर्म का सत्य होना अन्य सभी धर्मों के सत्य होने के ऊपर निर्भर करता है। उदाहरण-स्वरूप, अगर मेरे छ: अंगुलियाँ हैं और किसी दूसरे व्यक्ति के नहीं हैं, तो तुम कह सकते हो कि मेरे छ: अंगुलियों का होना असामान्य है। यही बात इस तर्क के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि कोई एक धर्म सत्य है और अन्य सभी झूठे हैं। किसी एक ही धर्म का सत्य होना वैसा ही अस्वाभाविक है, जैसा संसार में किसी एक ही व्यक्ति के छ: अँगुलियों का होना। इस तरह हम देखते हैं कि अगर कोई एक धर्म सत्य है, तो अन्य सभी धर्म भी सत्य हैं। उनके असारभूत तत्त्वों में अन्तर पड़ सकता है, पर तत्त्वत: सभी एक हैं। अगर मेरी पाँच अँगुलियाँ सत्य हैं, तो वे सिद्ध करती हैं कि तुम्हारी पाँच अँगुलियाँ भी सत्य हैं। (२/२२८)

४. क्या धर्म को भी स्वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य

प्रमाणित करना है, जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण-पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है? मेरा विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और मेरा अपना विश्वास भी है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वंसप्राप्त हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक धर्म था – कोरे अंधविश्वास का, एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जायगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आयेंगे। वह केवल विज्ञानसम्मत ही नहीं होगा – कम से कम उतना ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं – प्रत्युत् और भी अधिक सशक्त हो उठेगा; क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अंत:साक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है। (२/२७८)

५. धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म संबंधी सभी संकीर्ण, सीमित, युद्धरत धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। संप्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अंधविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा। (२/१९९)

६. अब प्रश्न आता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है? हाँ कर सकता है।

यह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान करता है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है, वह धर्म ही की बदौलत है और धर्म ही इस मानव पशु को एक ईश्वर बना देगा। यह है धर्म की क्षमता। मानव समाज से धर्म को निकाल दो, फ़िर शेष क्या बचेगा? पशुओं से भरे जंगल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ, इन्द्रिय-सुख को मानवता का चरम

लक्ष्य मानना महज मूर्खता है; मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान है।

पशु जितना आनन्द अपनी इन्द्रियों के माध्यम से पाता है, उससे अधिक आनन्द मनुष्य अपनी बुद्धि के माध्यम से अनुभव करता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक प्रकृति का बौद्धिक प्रकृति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य का परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है। इस ज्ञान के होते ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार की सारी चीजें मिथ्या, छाया मात्र हैं, वे परम ज्ञान और आनन्द की तृतीय या चतुर्थ स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं। (२/२६९-७०)

७. मुख्य बात है ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा। हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाहरी संसार के द्वारा हो जाती है। अत: हमें ईश्वर के सिवा अन्य सभी वस्तुओं की आकांक्षा होती है। अत: जब हमें इस बाह्य संसार के उस पार की चीजों की आवश्यकता होती है, तभी हम उनकी पूर्ति अन्त:स्थ स्रोत या ईश्वर से करना चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ जब तक इस भौतिक सृष्टि की संकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओं तक ही परिमित रहती हैं, तब तक हमें ईश्वर की कोई जरूरत नहीं पड़ती। जब हम यहाँ की हर एक चीज से तृप्त होकर ऊब जाते हैं, तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस सृष्टि के परे दौड़ती है। जब आवश्यकता होती है, तभी उसकी माँग भी होती है। इसलिए इस संसार की बालक्रिड़ा से, जितनी जल्दी हो सके निपट लो। तभी तुम्हें इस संसार के परे की किसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी और धर्म के प्रथम सोपान पर तुम कदम रख सकोगे। (९/१९-२०)

८. मेरे गुरुदेव मुझसे कहा करते थे कि तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे जो आम के बाग में जाने पर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहें, जब कि उनमें से केवल एक ही में आम खाने की बुद्धि हो। अत: पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में है, पर

इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन 'पत्ते गिननेवालों' में तुम्हे श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, किंतु उसके लिए 'पत्ते गिनने' की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना आवश्यक नहीं कि ईसा मसीह कहाँ पैदा हुए थे – जेरूसलेम में या बेथेलहम में; या उन्होंने 'शैलोपदेश' ठीक किस तारीख को सुनाया था; तुम्हे तो केवल उस 'शैलोपदेश' के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हजार शब्द पढ़ने की जरूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो; 'तथास्तु' कह दो और आओ, हम आम खायें। (९/२६)

९. धर्म का उद्देश्य धर्म ही है। जो धर्म केवल सांसारिक सुख का साधन मात्र है, वह अन्य चाहे जो कुछ भी हो, पर धर्म नहीं है। (९/२४८)

१०. हरेक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य भगवत्प्राप्ति ही है। सभी शिक्षाओं से बड़ी शिक्षा केवल भगवान् की ही आराधना करने की है। (२/२५२)

११. धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। (२/२५३)

१२. मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही सन्निहित होता है। (२/२५२)

१३. धर्म के बारे में कभी झगड़ा मत करो। धर्म सम्बन्धी सभी झगड़ा-फसादों से केवल यह प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता नहीं है। धार्मिक झगड़े सदा खोखली बातों के लिए होते हैं। जब पवित्रता नहीं रहती, जब आध्यात्मिकता विदा हो जाती है और आत्मा को नीरस बना देती है, तब झगड़े शुरू होते हैं, इसके पहले नहीं। (४/१८३)

१४. धर्म ईश्वर की प्राप्ति है। (१०/२२१)

१५. सच्चा धर्म पूर्ण रूप से परात्पर भूमि का विषय है। विश्व में रहनेवाले प्रत्येक जीव में इन्द्रियातीत होने की शक्ति सुप्त भाव में विद्यमान है। छोटे से छोटा कीड़ा भी एक दिन इन्द्रियातीत हो जायगा और परमेश्वर

तक पहुँच जायगा। कोई भी जीवन व्यर्थ न होगा। इस विश्व में 'व्यर्थ' नामक कोई वस्तु है ही नहीं। (३/११०)

१६. धर्म अधिकांश लोगों के लिए एक प्रकार की बौद्धिक सम्मति देने मात्र में ही समाप्त हो जाता है। मैं इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना अच्छा है। (९/३४)

१७. तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धान्तों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। (९/३६)

१८. यहाँ धर्म के क्षेत्र में हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, संसार की सारी पुस्तकों का अध्ययन चाहे हमने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं। हमने सूत्रों और सिद्धान्तों का तो अध्ययन किया है, पर अपने जीवन में अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया। (९/३६-३७)

१९. कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि दुनिया में केवल एक ही धर्म, एक ही ईश्वरावतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इन सब महापुरुषों के जीवन का अध्ययन और मनन करने पर हमें ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक – बस एक अंश का अभिनय करने के लिए ही निर्दिष्ट किया था। हम यह भी देखेंगे कि सब स्वरों के समन्वय से ही एकलयता उत्पन्न होती है, किसी एक स्वर से नहीं। (७/१७८)

२०. मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म में जो दोष एवं त्रुटियाँ लोग देखते हैं, उनके लिए धर्म का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, उसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल और डाइन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्यायपूर्ण कार्य करने की शिक्षा नहीं दी। तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिए किसने उत्तेजित किया? राजनीति ने – धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो यह दोष किसका है? (७/१८३)

२१. मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म, मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय वास्तव में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक ही धर्म है। अनन्त काल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है। (७/२६१)

२२. मैं यह नहीं समझ पाता कि कुछ लोग यह कहते हुए भी कि 'मैं ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ', यह भाव कैसे रखते हैं कि ईश्वर ने कुछ थोड़े से ही लोगों को सब सत्य का ठेका दे दिया है और वे ही सारी शेष मनुष्य जाति के संरक्षक हैं। (७/२६३)

२३. समस्त धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्भव कर रहा है, और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। (१/१९)

२४. मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म-जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।(१/१७-१८)

२४. मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति करनी चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए तथा उससे बातचीत करनी चाहिए, यही धर्म है। (७/२४६)

२६. मानव मात्र के लिए स्नेह और दया ही सच्ची धार्मिकता की परख है। (२/२३५)

२७. जब जीवन की वर्तमान अवस्था में भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन के प्रति भी ममता नहीं रह जाती, जब इस जोड़-गाँठ पर अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है, जब मिथ्या और पाखण्ड के प्रति प्रबल वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तभी धर्म का प्रारम्भ होता है। (२/७८)

२८. "अज्ञानपूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्धक्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है।" यही धर्म की भित्ति है। जब मनुष्य इस भित्ति पर खड़ा होता है, तब समझना चाहिए कि वह सत्य की प्राप्ति के पथ पर, ईश्वर की प्राप्ति के पथ पर चल रहा है। (२/७९)

२९. धार्मिक होने के लिए भी पहले यह दृढ़ प्रतिज्ञा आवश्यक है। मैं अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ लूँगा। सत्य को जानूँगा अथवा इस प्रयत्न में प्राण दे दूँगा। कारण, संसार की ओर से तो और कुछ पाने की आशा है ही नहीं, यह तो शून्यस्वरूप है – दिन-रात उड़ता जा रहा है।

दूसरी ओर है विजय का प्रलोभन – जीवन के समस्त अशुभों पर विजय-प्राप्ति की सम्भावना। और तो और, स्वयं जीवन और जगत् पर भी विजय-प्राप्ति की सम्भावना है। इसी उपाय से मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। (२/७९)

३०. हमारे गुरुदेव कहा करते थे, 'गीध बहुत ऊँचे उड़ते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि रहती है जानवरों के शव की ओर।' जो हो, तुममें धर्म के सम्बन्ध में जो सब धारणाएँ हैं, उनका फल क्या है, बताओ तो सही। मार्ग स्वच्छ करना और उत्तम प्रकार का अन्न-वस्त्र एकत्र करना? अन्न-वस्त्र के लिए कौन चिन्ता करता है? प्रति मुहूर्त लाखों व्यक्ति आ रहे हैं, लाखों जा रहे हैं – कौन परवाह करता है? इस क्षुद्र जगत् के सुख-दुःख को ग्राह्य मानते ही क्यों हो? यदि साहस हो, उनके बाहर चले जाओ। सब नियमों के बाहर चले जाओ, समग्र जगत् उड़ जाय – तुम अकेले आकर खड़े होओ। 'हम परम सत् हैं, परम चित् और परम आनन्दस्वरूप – सोऽहं, सोऽहं।' (८/७९)

३१. धर्म अनुभूति की वस्तु है – वह मुख की बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है – चाहे वह जितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना – उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है – वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नहीं है। समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जायगा। (३/१५९)

३२. सभी धर्मभावों की पृष्ठभूमि केवल त्याग ही है और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग का भाव क्षीण होता जाता है, वैसे वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी प्रमाण में आध्यात्मिकता का ह्रास होता जाता है। (७/२६४)

३३. हिन्दू भावों को अंग्रेजी में व्यक्त करना, फिर शुष्क दर्शन, पेचीदी पौराणिक कथाएँ, और अनूठे आश्चर्यजनक मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना जो सरल, सहज और लोकप्रिय हो और उसके साथ ही उन्नत मस्तिष्कवालों को संतुष्ट कर सके – इस कार्य की कठिनाइयों को वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया हो। अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्य प्रति के जीवन के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को भ्रम में डालनेवाली योग-विद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है – और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा बच्चा इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है। (४/३८६)

३४. मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्थावाले लोगों के लिए उपयोगी हो; इसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे। यदि कॉलेज से वैज्ञानिक और भौतिकशास्त्री अध्यापक आयें, तो वे युक्ति-तर्क पसन्द करेंगे। उनको जहाँ तक सम्भव हो, युक्ति-तर्क करने दो।

इसी तरह यदि कोई योगप्रिय व्यक्ति आयें, तो हम उनकी आदर के साथ अभ्यर्थना करके वैज्ञानिक भाव से मनस्तत्त्व-विश्लेषण कर देने और उनकी आँखों के सामने उसका प्रयोग दिखाने को प्रस्तुत रहेंगे। यदि भक्त लोग आयें, तो हम उनके साथ एकत्र बैठकर भगवान् के नाम पर हँसेंगे और रोयेंगे, प्रेम का प्याला पीकर उन्मत्त हो जायँगे। यदि एक पुरुषार्थी कर्मी आये, तो उसके साथ यथासाध्य काम करेंगे। भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म

के इस प्रकार का समन्वय सार्वभौमिक धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा। भगवान् की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा। जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए हैं, मैं उनको एकपक्षीय कहता हूँ और सारा संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही रास्ता जानते हैं। इसके सिवाय अन्य जो कुछ हैं, वह सब उनके निकट विपत्तिकर और भयंकर हैं। इस तरह चारों ओर समभाव से विकास लाभ करना ही 'मेरे' कहे हुए धर्म का आदर्श है। (३/१५०-५१)

३५. यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा, वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा।

वरन् इन सबकी समष्टि होगा, किन्तु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से किंचित् उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गये उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धानत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में सन्देह करते हैं, अपनी बाहुओं से आलिंगन कर सके और उनमें सबको स्थान दे सके। वह धर्म ऐसा होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़ित या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगा; वह प्रत्येक स्त्री और पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल और सामर्थ्य मानवता को अपनी सच्ची, दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित होगा। (१/२०-२१)

□□□

११

हिंदुधर्म

१. हिन्दू धर्म मानवात्मा के लिए एक , केवल एक कर्तव्य बताता है। वह नश्वरता के बीच अविनश्वर को पाने की खोज है। कोई भी मनुष्य ऐसा एक मार्ग बताने का साहस नहीं करता, जिसके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है। विवाह अथवा अ-विवाह, भलाई अथवा बुराई, विद्वत्ता अथवा अज्ञान, इनमें से कोई भी उचित है, यदि वह हमें ध्येय की ओर ले जाता है। इस तरह, इस बात में और बुद्धमत में बड़ा अन्तर है, क्योंकि बुद्धमत का प्रमुख निर्देश यह है कि बाह्य के अस्थायित्व का अनुभव प्राप्त किया जाय, साधारणत: जो केवल एक तरह से किया जा सकता है। क्या आपको महाभारत में उस युवक योगी की कहानी याद है, जो अपनी मनोशक्ति पर इसलिए गर्व करता था कि उसने एक कौवे और एक सारस के शरीर को अपनी तीव्र इच्छा के अनुसार क्रोध से उत्पन्न हुई अग्नि से जला दिया था। क्या आपको याद है कि वह युवक योगी नगर में जाता है और पहले एक पत्नी को अपने रोगी पति की सेवा करते हुए पाता है और फिर कसाई धर्म-व्याध को देखता है, जिन दोनों ने सामान्य सच्चाई और कर्तव्य के मार्ग से ज्ञान प्राप्त किया है।" (४/२६९)

२. वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर – आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्ति-पूजा के निम्न स्तरीय विचारों एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक, और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद

– इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है। (१/७)

३. हिन्दूओं की दृष्टी में समस्त धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्भव कर रहा है, और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। तो फिर इतने परस्पर विरोध क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभासी हैं। उनकी उत्पत्ति सत्य के द्वारा भिन्न अवस्थाओं और प्रकृतियों के अनुरूप अपना समायोजन करते समय होती है। (१/१९)

४. हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार निम्नतम जड़पूजावाद से लेकर सर्वोच्च ब्रह्मवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा साहचर्य की अवस्था द्वारा निर्धारित होकर उस असीम के ज्ञान तथा उपलब्धि के निमित्त मानवात्मा के विविध प्रयत्न हैं, और यह प्रत्येक प्रयत्न उन्नति की एक अवस्था को सूचित करता है। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति-सम्पादन करता हुआ अंत में उस भास्वर सूर्य तक पहुँच जाता है। (१/१८)

५. हमारे धर्म के सम्प्रदायों में अनेक विभिन्नताएँ एवं अन्तर्विरोध होते हुए भी एकता के अनेक क्षेत्र हैं। प्रथम, सभी सम्प्रदाय तीन चीजों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं – ईश्वर, आत्मा और जगत्। ईश्वर वह है, जो अनन्त काल से सम्पूर्ण जगत् का सर्जन, पालन और संहार करता आ रहा है। सांख्य दर्शन के अतिरिक्त सभी इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। इसके बाद आत्मा का सिद्धान्त और पुनर्जन्म की बात आती है। इसके अनुसार असंख्य जीवात्माएँ बार बार अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमती रहती हैं। इसीको संसारवाद या प्रचलित रूप से पुनर्जन्मवाद कहते हैं। इसके बाद यह अनादि अनन्त जगत् है। यद्यपि कुछ लोग इन तीनों को भिन्न भिन्न मानते हैं तथा कुछ इन्हें एक ही के भिन्न

भिन्न तीन रूप और कुछ अन्य प्रकारों से इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पर इन तीनों का अस्तित्व ये सभी मानते हैं। (५/३४६)

६. तुम लोग आजकल सदा यह निन्दा सुन रहे हो कि हिन्दुओं का धर्म दुसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं; और मैं बड़े दुःख से कहता हूँ कि यह बात ऐसे ऐसे व्यक्तियों के मुँह की होती है, जिनसे हम अधिकतर ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। मुझे यह जान पड़ता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। इस तथ्य के समर्थन की प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसने कभी खून की नदियाँ नहीं बहायीं, उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे, सबको उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनायी। यहीं, केवल यहीं, दूसरे धर्म से द्वेष न रखने के भाव सबसे पहले प्रचारित हुए, केवल यहीं परधर्म-सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्यरूप में परिणत हुए। अन्य देशों में यह केवल सिद्धान्त-चर्चा मात्र है। यहीं, केवल यहीं, यह देखने में आता है कि हिन्दू मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिरजे बनवाते हैं। (५/१६७-६८)

७. हिन्दू धर्म के प्रधान तत्त्वों का आधार है, मनन एवं चिन्तनयुक्त दर्शनशास्त्र तथा भिन्न भिन्न वेदों में प्रतिपादित नैतिक उपदेश। इन वेदों का कथन है कि यह विश्व देश और काल की दृष्टि से अनन्त और सनातन है। वह न तो कभी प्रारम्भ हुआ, न कभी समाप्त होगा। वह चित्-शक्ति इस जड़-जगत् में विभिन्न अगणित प्रकारों से प्रकाशित हुई है, इस सान्त के राज्य में उस अनन्त की शक्ति नाना रूपों में व्यक्त हुई है, परन्तु फिर भी वह अनंन्त चित्-सत्ता स्वरूपतः स्वयम्भू, सनातन एवं अपरिणामी है। काल की गति का शाश्वत सत्ता पर कोई असर नहीं होता। मानव-बुद्धि के लिए सर्वथा अगम्य जो अतीन्द्रिय भूमि है, वहाँ न तो भूत है और न भविष्य। वेदों का कथन है कि मानव की आत्मा अमर है। शरीर वृद्धि और क्षय के नियमों से बद्ध है; जिसकी वृद्धि है, उसका क्षय भी अवश्यमेव होगा। परन्तु देहमध्यस्थ आत्मा तो असीम एवं सनातन है; वह अनादि और अनन्त

है। (१/२५४)

८. निज धर्म में दूसरों का सम्मिलित होना हिन्दुओं द्वारा सहन किया जाता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शूद्र हो या चांडाल, ब्राह्मण के प्रति भी दर्शन की व्याख्या कर सकता है। सत्य निम्नतम व्यक्ति से भी सीखा जा सकता है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा सम्प्रदाय का हो। (४/२४८)

९. जब मुसलमान पहले-पहल यहाँ आये, तो कहा जाता है – मैं समझता हूँ, प्राचीनतम मुसलमान इतिहास-लेखक फ़रिश्ता के प्रमाण से – कि हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम लोग बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है, उससे हमारा एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।

"फिर जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई बने हैं, उनमें से अधिकतर या तो तलवार के भय से बने हैं या जो इस प्रकार बने हैं, उनके वंशज हैं। इन लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यता आरोपित करना स्पष्ट ही अन्याय होगा। क्या कहा, जन्मत: परायों के बारे में? क्यों, जन्मत: परायों के तो समूहों के समूह अतीत में हिन्दू धर्म में लिये गये हैं, और यह उपक्रम आज भी चल रहा है।

"मेरी अपनी राय में, यह कथन न केवल आदिम जातियों, सीमांत के राष्ट्रों और मुसलमानी विजय से पहले के लगभग सभी विजेताओं पर लागू होता है, वरन् उन जातियों के लिए भी सत्य है, जिनकी पुराणों में विशेष उत्पत्ति हुई है। मैं समझता हूँ कि वे लोग बाहर के थे और इस प्रकार स्वीकृत कर लिये गये।

"निश्चय ही प्रायश्चित्त का अनुष्ठान अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करनेवालों के अपने मातृधर्म में लौटने कि लिए उपयुक्त है; पर उन लोगों के लिए जो विजय के द्वारा – जैसे कि काश्मीर और नेपाल में – हमसे अलग कर दिये गये हैं, अथवा उन नये लोगों के लिए जो हममें सम्मिलित होना चाहते हैं, किसी प्रकार के प्रायश्चित की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।" (४/२७०)

१०. हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इन्द्रिय-संवेद्य विषयों के परे और भी कोई सत्ताएँ हैं, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है।

हिन्दू धर्म भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है, वरन् वह साक्षात्कार है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह होना और बनना है। (१/१४)

□□□

१२

श्रीकृष्ण और कर्मयोग

१. जहाँ तक मैं जानता हूँ कि वे एक सुसामंजस्यपूर्ण – मस्तिष्क, हृदय और कर-नैपुण्य (ज्ञान, भक्ति और कर्म) में आश्चर्यजनक रूप से सम विकसित व्यक्ति हैं। उनका प्रत्येक क्षण क्रियाशीलता से, चाहे वह एक सम्भ्रान्त जन की हो, योद्धा, अमात्य या किसी अन्य की हो, जीवंत है। वे एक सम्भ्रान्त पुरुष, एक विद्वान् और एक कवि के रूप में महान् हैं। इस सर्वतोमुखी और आश्चर्यजनक क्रियाशीलता, तथा हृदय और मस्तिष्क के समन्वय को तुम गीता तथा अन्य ग्रन्थों में पाते हो। परम आश्चर्यजनक हृदय, उत्कृष्टतम भाषा – कहीं कुछ भी उसे पा नहीं सकता। व्यक्ति की प्रबल क्रियाशीलता – यही धारणा अब तक बनी हुई है। पाँच हजार वर्ष बीत चुके हैं और उन्होंने कोटि कोटि जन को प्रभावित किया है। जरा सोचो कि इस व्यक्ति का समग्र जगत् पर कितना प्रभाव है, भले ही तुम उससे अवगत हो या न हो। उनके प्रति मेरा सम्मान भाव उनकी पूर्ण प्रकृतिस्थता के कारण है। उस मस्तिष्क में न तो जाले हैं, न अन्धविश्वास। वे प्रत्येक वस्तु का उपयोग जानते हैं, और जब (उनमें से प्रत्येक को स्थान देना) आवश्यक होता है, वे वहाँ (मौजूद मिलते) हैं। (७/२८२)

२. कृष्ण का यही महान् कार्य था: हमारी आँखों को स्वच्छ कराना और मानवता की ऊर्ध्वगामी तथा अग्रगामी प्रगति को विशालतर दृष्टि से दिखाना। उनका ही पहला हृदय था, जिसमें सबमें विद्यमान सत्य को देख सकने की विशालता थी, और उनकी ही प्रथम वाणी थी, जिससे प्रत्येक

और समस्त के निमित्त सुन्दर शब्द उच्चरित हुए। (७/२७६)

३. कृष्ण में हमें उनके संदेश में ... दो विचार सर्वोपरि मिलते हैं: पहला है विभिन्न विचारों का सामंजस्य; और दूसरा है अनासक्ति। (७/२७६)

४. अहैतुकी भक्ती, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है। मानव-इतिहास में प्रथम बार भारतमूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुँह से पहले पहल यह तत्त्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए बिदा हो गये और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुख-भोग के प्रलोभन होते हुए भी ऐसे सर्वोत्तम आदर्श का अभ्युदय हुआ, जैसे प्रेम प्रेम के निमित्त, कर्तव्य कर्तव्य के निमित्त, कर्म कर्म के निमित्त। (५/१५२)

५. इस जगत् मे प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। केवल वही व्यक्ति कर्म से परे है, जो सम्पूर्ण रूप से आत्मतृप्त है, जिसे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कामना नहीं, जिसका मन आत्मा को छोड़ अन्यत्र कहीं भी गमन नहीं करता, जिसके लिए आत्मा ही सर्वस्व है। शेष सभी व्यक्तियों को तो कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा। (३/७२)

६. किसी मनुष्य ने चाहे एक भी दर्शनशास्त्र न पढ़ा हो, किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न किया हो और न करता हो, चाहे उसने अपने जीवन भर में एक बार भी प्रार्थना न की हो, परन्तु केवल सत्कार्यों की शक्ति द्वारा उस अवस्था में पहुँच गया है, जहाँ वह दूसरों के लिए अपना जीवन और सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार रहता है, तो हमें समझना चाहिए कि वह उसी लक्ष्य को पहुँच गया है, जहाँ भक्त अपनी उपासना द्वारा तथा दार्शनिक अपने ज्ञान द्वारा पहुँचता है। इस प्रकार तुम देखते हो कि ज्ञानी, कर्मी और भक्त, तीनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं; और वह स्थान है – आत्मत्याग। लोगों के दर्शन और धर्म में कितना ही भेद क्यों न हो, जो व्यक्ति अपना जीवन दूसरों के लिए अर्पित करने को उद्यत रहता है, उसके प्रति समग्र मानवता श्रद्धा और भक्ति से नत हो जाती है। (३/६०-६१)

७. कर्मयोग के अनुसार, बिना फल उत्पन्न किये कोई भी कर्म नष्ट

नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से रोव नहीं सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म करूँ, तो उसका फल मुझे भोगना ह पड़ेगा; विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इसे रोक सके। इसी प्रकार, यदि मैं कोई सत्कार्य करूँ, तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उसके शुभ फल को रोक सके। (३/५७)

८. हमारा मन जिस प्रणाली अथवा विधि से कुछ घटना-शृंखला की धारणा करता है, उसीको हम नियम कहते हैं, और यह हमारे मन में ही स्थित है। एक दूसरे के बाद अथवा एक ही साथ घटित होनेवाली घटनाएँ, तथा उसके पश्चात् उनकी नियमित पुनरावृत्ति में विश्वास – जिससे हमारा मन संपूर्ण शृंखला की प्रणाली को ग्रहण करने में समर्थ होता है – नियम कहते हैं। (३/६८-६९)

९. आदर्श पुरुष तो वे हैं, जो परम शान्ति एवं निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का तथा प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शान्ति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं। उन्होंने संयम का रहस्य जान लिया है – अपने ऊपर विजय प्राप्त कर चुके हैं। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उनका मन उसी प्रकार शान्त रहता है, मानो वे किसी निःशब्द गुफा में हों, और फिर भी उनका मन सारे समय कर्म में तीव्र रूप से लगा रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है, और यदि तुमने यह प्राप्त कर लिया है, तो तुम्हें वास्तव में कर्म का रहस्य ज्ञात हो गया। (३/१०)

१०. अब तुमने देखा, कर्मयोग का अर्थ क्या है। उसका अर्थ है – मौत के मुँह में भी जाकर बिना तर्क-वितर्क किये सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ, पर मुँह से एक बात तक न निकालो; और तुम जो कुछ भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध में सोचो तक नहीं। निर्धन के प्रति किये गये उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो; बल्कि उलटे तुम्हीं उसके कृतज्ञ होओ – यह सोचकर कि उसने तुम्हें दान देने का एक अवसर दिया है। (३/३७)

११. कर्मयोग क्या है? – कर्म के रहस्य का ज्ञान।

संसार में इधर-उधर धक्के खाकर तथा बहुत समय तक चोटें सहकर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानने की अपेक्षा हमें कर्मयोग द्वारा सहज ही कर्म का रहस्य, कर्म की पद्धति तथा कर्म की संघटक शक्ति ज्ञात हो जाती है। यदि हमें उसके उपयोग का ज्ञान न रहे, तो व्यर्थ ही हमारी बहुत सी शक्ति क्षय हो जायगी। कर्मयोग कर्म को एक विज्ञान ही बना लेता है, जिसके द्वारा तुम यह जान सकते हो कि संसार के समस्त कार्यों का सर्वोत्तम उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। कर्म तो अनिवार्य है – करना ही पड़ेगा, किन्तु सर्वोच्च ध्येय को सम्मुख रखकर कार्य करो। (३/७२-७३)

१२. कर्मयोग कहता है कि निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो। अपने को किसी भी विषय के साथ एकरूप मत कर डालो – अपने मन को मुक्त रखो। संसार में तुम्हें जो क्लेश और दुःख दिखायी देते हैं, वे तो विश्व के अपरिहार्य व्यापार हैं। दारिद्र्य, सम्पति-सुख, ये सब क्षणिक हैं, वास्तव में हमारे यथार्थ स्वरूप से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा स्वरूप तो सुख और दुःख से एकदम परे है, प्रत्यक्ष और कल्पनागोचर विषयों से बिल्कुल अतीत है, परन्तु फिर भी हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। 'क्लेश आसक्ति से ही उत्पन्न होता है, कर्म से नहीं।' ज्यों ही हम अपने कर्म से स्वयं को एक रूप कर डालते हैं, त्यों ही क्लेश उत्पन्न होता है; परन्तु यदि हम अपने को उससे एकरूप न करें, तो हमें यह क्लेश छू तक नहीं सकता। (३/७३)

१३. यह 'मैं और मेरा' ही समस्त क्लेश की जड़ है। भोग की भावना के साथ ही स्वार्थ आ जाता है और स्वार्थ-परता से ही क्लेश उत्पन्न होता है। स्वार्थपरता का प्रत्येक कार्य और विचार हमें किसी न किसी वस्तु से आसक्त कर देता है, और हम तुरन्त दास बन जाते हैं। चित्त की प्रत्येक लहर, जिसमें 'मैं और मेरे' की भावना रहती है, हमें उसी क्षण जंजीरों से जकड़कर गुलाम बना देती है। हम जितना ही 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं, दासत्व का भाव हममें उतना ही बढ़ता जाता है और हमारे क्लेश भी

उतने ही अधिक बढ़ जाते हैं। अतएव कर्मयोग हमें शिक्षा देता है कि हम संसार के समस्त चित्रों के सौन्दर्य का आनन्द उठायें, परन्तु उनमें से किसी एक के भी साथ एकरूप न हो जायँ। (३/७४)

१४. अतएव, कर्मयोग कहता है कि पहले तुम स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। और जब तुममें इसको रोकने की क्षमता आ जाय, तो उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की वीथियों में न जाने दो। फिर तुम संसार में जाकर और यथाशक्ति कर्म कर सकते हो। फिर तुम सबसे मिल सकते हो, जहाँ चाहो, जा सकते हो, तुम्हें कुछ भी पाप स्पर्श न कर सकेगा। पानी में रहते हुए भी जिस प्रकार पद्मपत्र को पानी स्पर्श नहीं कर सकता और न उसे भिगो सकता है, उसी प्रकार तुम भी संसार में निर्लिप्त भाव से रह सकोगे। (३/७४)

१५. बाह्य शरीर के प्रति हम जो भी करते हैं, उससे अनासक्ति का सम्बन्ध नहीं है, वह तो पूर्णतया मन में होती है। 'मैं और मेरे' को बाँधनेवाली जंजीर तो मन में ही रहती है। यदि शरीर और इन्द्रियगोचर विषयों के साथ इस जंजीर का सम्बन्ध न रहे, तो फिर हम कहीं भी क्यों न रहें, हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हो, परन्तु फिर भी बिल्कुल अनासक्त हो; और दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति चिथड़ों में हो, पर फिर भी वह बुरी तरह आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, और फिर सतत कार्य करते रहना होगा। यद्यपि यह है बड़ा कठिन, परन्तु कर्मयोग समस्त आसक्ति से मुक्त होने में सहायक प्रक्रिया सिखा देता है। (३/७५)

१६. आसक्ति का सम्पूर्ण त्याग करने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय उन लोगों के लिए है, जो न तो ईश्वर में विश्वास करते हैं और न किसी बाहरी सहायता में। वे अपने ही उपायों का प्रयोग कर सकते हैं, उन्हें अपनी ही इच्छा-शक्ति, मनःशक्ति एवं विवेक का अवलम्बन करके कहना होगा, "मैं अनासक्त होऊँगा ही।" जो ईश्वर पर विश्वास करते हैं, उनके लिए एक दूसरा मार्ग है, जो इसकी अपेक्षा बहुत सरल है। वे समस्त कर्मफलों को

ईश्वर को अर्पित करके कर्म करते जाते हैं, इसलिए कर्मफल में कभी आसक्त नहीं होते। वे जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, सुनते हैं अथवा करते हैं, वह सब भगवान् के लिए ही होता है। हम जो कुछ भी सत्-कार्य करें, उससे हमें किसी प्रकार की प्रशंसा अथवा लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। वह तो सब प्रभु का ही है। सारे फल उन्हींको अर्पित कर दो। (३/७५)

१७. अग्नि में आहुतियाँ देने की अपेक्षा दिन-रात केवल यही एक महान् आहुति – अपने इस क्षुद्र 'अहं' की आहुति – देते रहो। 'संसार में धन की खोज करते करते हे प्रभु, मैंने केवल तुम्हीं को एकमात्र धन पाया; मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ। किसी प्रेमास्पद की खोज करते करते, हे नाथ, केवल तुम्हींको ही मैंने एकमात्र प्रेमास्पद पाया; मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ।' हमें चाहिए कि हम दिन-रात यही दुहराते रहें और कहें, "हे प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिए। कोई वस्तु चाहे अच्छी हो, चाहे बुरी, चाहे तटस्थ, मैं उसे तनिक भी नहीं चाहता। मैं सब कुछ तुम्हींको समर्पण करता हूँ।" रात-दिन हमें इस तथाकथित भासमान 'अहं' का त्याग करते रहना चाहिए, जब तक कि यह स्वभाव के रूप में परिणत न हो जाय, जब तक कि यह हमारे शरीर की शिरा शिरा में, नस नस में और मस्तिष्क में व्याप्त न हो जाय और हमारा सम्पूर्ण शरीर प्रतिक्षण आत्मत्याग के इस भाव का अनुवर्ती न हो जाय। फिर तुम तोप के धमाकों और रण के तुमुल कोलाहल से पूर्ण युद्धक्षेत्र में जाओ, वहाँ पर भी तुम अपने को सदैव मुक्त और शांतियुक्त पाओगे। (३/७६)

१८. मैं काम करना चाहता हूँ, मैं किसी मनुष्य का उपकार करना चाहता हूँ। और नब्बे में एक यही देखा जाता है कि मैंने जिसकी सहायता की है, वह व्यक्ति सारे उपकारों को भूलकर मुझसे शत्रुता करता है – फल यह होता है कि मुझे कष्ट मिलता है। इस प्रकार की घटनाएँ ही मनुष्य को कर्म से विरत कर देती हैं और इन दुःखों और कष्टों का भय ही मनुष्यों के कर्म और उद्यम को नष्ट कर देता है। किसकी सहायता की जा रही है अथवा किस कारण से सहायता की जा रही है, इत्यादि विषयों पर ध्यान

न रखते हुए अनासक्त भाव से केवल कर्म के लिए कर्म करना चाहिए – कर्मयोग यही शिक्षा देता है। कर्मयोगी कर्म करते हैं, कारण, यह उनका स्वभाव है, वे अनुभव करते हैं कि ऐसा करना ही उनके लिए कल्याणप्रद है – इसको छोड़ उनका और कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे संसार में सर्वदा दाता का आसन ग्रहण करते हैं, कभी किसी वस्तु की प्रत्याशा नहीं रखते। वे जान-बूझकर दान करते जाते हैं, परन्तु प्रतिदानस्वरूप वे कुछ नहीं चाहते, इसी कारण वे दु:खों से मुक्ति पाते हैं। (३/१५४-५५)

१९. नि:स्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य, इस मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है। अतएव हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कार्य अपने इस लक्ष्य तक हमारे पहुँचने में बाधक होता है, तथा प्रत्येक नि:स्वार्थ कर्म हमें उसकी ओर आगे बढ़ाता है। इसीलिए नैतिकता की यही एकमात्र परिभाषा हो सकती है कि "जो स्वार्थपर है, वह, 'अनैतिक' है और जो नि:स्वार्थपर है, वह 'नैतिक' है।" (३/८२-८३)

२०. कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास न करे, आत्मा के सम्बन्ध में न जानना चाहे, या किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका अपना लक्ष्य रहता है – नि:स्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में यह उपलब्धि होनी चाहिए, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धान्त की सहायता लिए बिना ही अपनी इस समस्या का समाधान केवल कर्म द्वारा करना होता है, जब कि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने विचार और अन्त:प्रेरणा द्वारा तथा भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है। (३/८३-८४)

२१. संसार-क्षेत्र में कूद पड़ें और कर्म का रहस्य जान लें। इसीको कर्मयोग कहते हैं। इस संसार-यंत्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। इस यंत्र से होकर ही बाहर निकल आने का मार्ग है। (३/८८)

२२. लोगों ने मुझसे यह प्रश्न अनेक बार किया है कि हम कार्य के लिए जो एक प्रकार का आवेग अनुभव करते हैं, यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे? मैं भी बहुत दिन पहले यही सोचता था, किन्तु जैसे जैसे मेरी आयु बढ़ रही है, जितना अनुभव बढ़ता जा रहा है, उतना ही मैं देखता हूँ कि यह सत्य नहीं है। कार्य के भीतर आवेग जितना ही कम रहता है, उतना ही उत्कृष्ट वह होता है। हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं, उतना ही हम लोगों का आत्मकल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। जब हम लोग भावनाओं के अधीन हो जाते हैं, तब अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, अपने स्नायुसमूह को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं किन्तु काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप में परिणत होना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र में पर्यवसित होकर क्षय हो जाती है। जब मन अत्यंत शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हम लोगों की समस्त शक्ति सत्कार्य में व्यय होती है। यदि तुम जगत् के महान् कार्यकुशल व्यक्तियों की जीवनी कभी पढ़ो, तो देखोगे कि वे अद्भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भंग नहीं कर पाती थी। इसीलिए जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या किसी अन्य आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नहीं कर पाता, अपने को चूर चूर कर डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नहीं कर पाता। केवल शान्त, क्षमाशील, स्थिरचित्त व्यक्ति ही सबसे अधिक काम कर पाता है। (८/५)

२३. पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए – उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ कर्म करने में लगे रहें। (१/१३)

२४. केवल इसमें-उसमें विश्वास करने से ही पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जल्पना से कोई अर्थ-सिद्धि नहीं होती। यह तो शुक-सारिका भी कर लेते हैं। केवल निष्काम कर्म ही मनुष्य को पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।(७/१९९)

२५. स्वामीजी – तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, यह सत्य है। किन्तु दूसरों के निमित्त कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या से परहित की इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है, वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य करते करते तपस्या फल के रूप में होती है। चित्त-शुद्धि और परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

शिष्य – परन्तु महाराज, दूसरों के निमित्त पहले से ही कितने मनुष्य प्राणपण से कार्य कर सकते हैं? वह उदारता मन में पहले से ही कैसे आयेगी जिससे मनुष्य आत्मसुख की इच्छा को बलि देकर औरों के निमित्त जीवन दान करता है?

स्वामीजी – और तपस्या करने में ही कितने मनुष्यों का मन लगता है? कामिनीकांचन के आकर्षण में पड़कर कितने मनुष्य भगवान् लाभ करने की इच्छा करते हैं? तपस्या जैसी कठिन है, निष्काम कर्म भी वैसा ही कठिन है। अतएव औरों के मंगल के लिए जो लोग कार्य करते हैं, उनके विरुद्ध तुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। तुझे यदि तपस्या अच्छी लगे तो तू किये जा। परन्तु यदि किसीको कर्म ही अच्छा लगे तो उसे रोकने का तुझे क्या अधिकार है? तू क्या यहीं सोच बैठा है कि कर्म तपस्या नहीं है?

शिष्य – जी महाराज। पहले मैं तपस्या का अर्थ कुछ और समझता था।

स्वामीजी – जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उस पर दृढ़ता हो जाती है, वैसे ही पहले अनिच्छा के साथ कर्म करते करते भी क्रमशः हृदय उसीमें मग्न हो जाता है और परार्थ कार्य करने में प्रवृत्ति होती है, समझे? तुम एक बार अनिच्छा के साथ ही औरों की सेवा कर देखो न, फिर देखो तपस्या का फल प्राप्त होता है या नहीं। परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन नष्ट हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपट भाव से औरों के मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।

शिष्य – परन्तु महाराज, परहित का प्रयोजन क्या है?

स्वामीजी – अपना ही हित साधन। यदि तुम यह सोचो कि तुमने इस शरीर को जिसका अहंभाव लिये बैठे हो, दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर

दिया है तो तुम इस अहंभाव को भी भूल जाओगे और अन्त में विदेह बुद्धि आ जायगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिए जितना सोचोगे उतना ही अपने अहंभाव को भूलोगे। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमशः चित्तशुद्धि हो जायगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों तथा घटों में विराजमान है। औरों का हित करना आत्मविकास का एक उपाय है – एक पथ है। इसे भी एक प्रकार की ईश्वर साधना जानना। इसका भी उद्देश्य आत्मविकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसा आत्मविकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसा ही होता है। (६/७६-७७)

२६. यदि संसार त्यागने के उपदेश को उसके प्राचीन स्थूल अर्थ में ग्रहण किया जाय, तो निष्कर्ष यही निकलता है कि हमें कोई कार्य करने की आवश्यकता नहीं, आलसी होकर मिट्टी के ढेले की भाँति बैठे रहना ठीक होगा, कोई विचार या कार्य करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं, अदृष्टवादी होकर, घटना-चक्र की लथाड़ें खाकर, प्राकृतिक नियमों द्वारा परिचालित होकर इधर-उधर घूमते रहने से ही काम चल जायगा। बस, यही निष्कर्ष निकलता है। किन्तु पूर्वोक्त उपदेश का अर्थ वास्तव में यह नहीं है। हम लोगों को कार्य अवश्यमेव करना पड़ेगा। व्यर्थ की वासनाओं के चक्र में पड़कर इधर-उधर भटकते फिरनेवाले साधारण जन कार्य के सम्बन्ध में भला क्या जानें? जो व्यक्ति अपनी भावनाओं और इन्द्रियों से परिचालित है, वह भला कार्य को क्या समझे? कार्य वही कर सकता है, जो किसी वासना के द्वारा, किसी स्वार्थपरता के द्वारा परिचालित नहीं होता। वे कार्य करते हैं, जिनकी कोई कामना नहीं है। वे ही कार्य करते हैं, जो बदले में किसी लाभ की आशा नहीं रखते। (२/१५२-५३)

□□□

१३

बुद्ध

१. बुद्ध ध्वंस करने नहीं आये थे, वरन् वे हिन्दू धर्म की निष्पत्ति थे, उसकी तार्किक परिणति और उसके युक्तिसंगत विकास थे। (१/२३)

२. मै गौतम बुद्ध के समान नैतिकतायुक्त लोग देखना चाहता हूँ। वे सगुण ईश्वर अथवा व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास नहीं करते थे, उस विषय में कभी प्रश्न ही नहीं करते थे, उस विषय में पूर्ण अज्ञेयवादी थे, किन्तु जो सबके लिए अपने प्राण तक देने को प्रस्तुत थे – आजन्म दूसरों का उपकार करने में रत रहते तथा सदैव इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि दूसरों का उपकार किस प्रकार हो। उनके जीवन-चरित लिखनेवालों ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' जन्म ग्रहण किया था। वे अपनी निजी मुक्ति के लिए वन में तप करने नहीं गये। दुनिया जली जा रही है – और इसे बचाने का कोई उपाय मुझे खोज निकालना चाहिए। उनके समस्त जीवन में यही एक चिन्ता थी कि जगत् में इतना दुःख क्यों है? तुम लोग क्या यह समझते हो कि हम सब उनके समान नैतिकतापरायण हैं? (८/५७-५८)

३. बुद्ध एक महा वेदान्ती थे, (क्योंकि बौद्ध धर्म वास्तव में वेदान्त की शाखा मात्र है) और शंकर को भी कोई कोई प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। बुद्ध ने विश्लेषण किया था – शंकर ने उन सबका संश्लेषण किया है। बुद्ध ने कभी भी वेद या जाति-भेद अथवा पुरोहित किंवा सामाजिक प्रथा किसीके सामने माथा नहीं नवाया। जहाँ तक तर्क-विचार चल सकता है,

वहाँ तक निर्भीकता के साथ उन्होंने तर्क-विचार किया है। इस प्रकार का निर्भीक सत्यानुसन्धान, प्राणिमात्र के प्रति इस प्रकार का प्रेम संसार में किसीने कभी भी नहीं देखा। (७/७१)

४. बुद्धदेव के जन्म के पूर्व इस देश में क्या था? तालपत्र की पोथियों में कुछ धर्म-तत्त्व था, सो भी बिरले ही मनुष्य उसको जानते थे। लोग इसको कैसे व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ करें, यह बुद्धदेव ने ही सिखलाया। वे ही वास्तव में वेदान्त के स्फूर्ति देवता थे। (६/८२)

५. भगवान् बुद्ध ने धर्म के प्राय: सभी अन्यान्य पक्षों को कुछ समय के लिए दूर रखकर केवल दुःखों से पीड़ित संसार की सहायता करने के महान् कार्य को प्रधानता दी थी। परन्तु फिर भी स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-भाव से चिपके रहने के खोखलेपन के महान् सत्य का अनुभव करने के निमित्त आत्मानुसन्धान में उन्हें भी अनेक वर्ष बिताने पड़े थे। भगवान् बुद्ध से अधिक निःस्वार्थ तथा अथक कर्मी हमारी उच्च से उच्च कल्पना के भी परे है। परन्तु फिर भी उनकी अपेक्षा और किसे समस्त विषयों का रहस्य जानने के लिए इतने विकट संघर्ष करने पड़े? (९/२५८)

६. गौतम बुद्ध के महान् सन्देश को सुनो। अनायास ही उनकी महान् वाणी हृदय में घर कर लेती है। बुद्ध ने कहा है, 'अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओं का उन्मूलन कर दो, स्वार्थपरता की ओर ले जानेवाली सारी बातें नष्ट कर दो। स्त्री-पुत्र-परिवार आदि बन्धनों तथा सांसारिक प्रपंचों से दूर रहो और सम्पूर्णतया स्वार्थ-शून्य बनो।' संसारी व्यक्ति मन ही मन निःस्वार्थ बनने का संकल्प करता रहता है, किन्तु पत्नी-मुख अवलोकन करते ही उसका हृदय स्वार्थ से भर जाता है। माँ स्वार्थशून्य बनने की इच्छा करती है, पर पुत्र का मुखावलोकन करते ही उसके ये भाव लुप्त हो जाते हैं। सबकी यही दशा है। ज्योंही हृदय में स्वार्थपूर्ण कामनाओं का उदय होता है, ज्योंही व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य प्रारम्भ करता है; त्योंही सम्पूर्ण मनुष्य, सच्चा मनुष्य लुप्त हो जाता है, तब वह पशु बन जाता है, वासनाओं का क्रीतदास बन जाता है। उसे विस्मरण हो जाता है अपने बान्धवों का, और अब वह

कभी नहीं कहता, 'पहले, आप और बाद में मैं'; अब उसके मुँह से निकलने लगता है, 'पहले मैं और मेरे बाद सब अपना अपना प्रबन्ध कर लें।' (७/१९०)

७. एकमात्र बुद्ध ही एक ऐसे पैगम्बर थे, जो कहते थे, "मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ? भला करो और भले बनो। बस, यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो भी कुछ सत्य है, उसकी ओर ले जायगा।" (३/८९)

८. उन्हींने सर्वप्रथम साहसपूर्वक कहा था, "चूँकि कुछ प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ प्रमाण के लिए प्रस्तुत की जाती हैं, केवल इसीलिए किसी बात पर विश्वास मत कर लो; उस बात को इसलिए भी न मान लो कि वह तुम्हारा जातीय विश्वास है अथवा बचपन से ही तुम्हें उस पर विश्वास कराया गया है; वरन् तुम स्वयं उस पर विचार करो, और विशेष रूप से विश्लेषण करने के बाद यदि देखो कि उससे तुम्हारा तथा दूसरों का भी कल्याण होगा, तभी उस पर विश्वास करो, उसके अनुसार अपना जीवन बिताओ तथा दूसरों को भी उसके अनुसार चलने में सहायता पहुँचाओ।" (३/९०)

९. अन्य कई महापुरुष थे, जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, 'अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।' (७/१९८)

१०. अपने सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध कहा करते थे, 'बुद्ध शब्द का अर्थ है – आकाश के समान अनन्त ज्ञानसम्पन्न; मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गयी है। तुम भी यदि प्राणप्रण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।' (७/१९८)

११. बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पा ली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपने राज-पाट और सब प्रकार के सुखों को तिलांजलि दे, इस राजकुमार ने अपना सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी तथा जीव-जन्तुओं के कल्याण के हेतु, आर्यावर्त की वीथी वीथी में भ्रमण कर भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार किया। जगत् में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जो यज्ञों में पशुबलि-निवारण के हेतु, किसी प्राणी के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो – शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध हो गया! (७/१९८)

१२. ईश्वर में विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियों का मार्ग सुगम हो जाता है। किन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी, जो नास्तिक है जिसका किसी दर्शन में विश्वास नहीं, जो न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-मसजिद में ही जाता है, जो घोर जड़वादी है, परमोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। बुद्ध के मतामत या कार्यकलापों का मूल्यांकन करने का हमें कोई अधिकार नहीं। उनके विशाल हृदय का सहस्रांश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नहीं। उन्हें भी वह पूर्णावस्था प्राप्त हो गयी थी, जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान या योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं। (७/१९८-९९)

१३. बुद्धदेव ने बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर दृढ़ स्वर से जो बात कही थी, उसे जो अपने रोम रोम से बोल सकता है, वही वास्तविक धार्मिक होने योग्य है। संसारी होने की इच्छा उनके भी हृदय में एक बार उत्पन्न हुई थी। इधर वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि उनकी यह अवस्था, यह सांसारिक जीवन एकदम व्यर्थ है; पर इसके बाहर जाने का उन्हें कोई मार्ग नहीं मिल रहा था। मार एक बार उनके निकट आया और कहने लगा – 'छोड़ो भी सत्य की खोज, चलो, संसार में लौट चलो, और पहले जैसा

पाखण्डपूर्ण जीवन बिताओ, सब वस्तुओं को उनके मिथ्या नामों से पुकारो, अपने निकट और सबके निकट दिन-रात मिथ्या बोलते रहो'। यह मार उनके पास पुनः आया, पर उस महावीर ने अपने अतुल पराक्रम से उसे उसी क्षण परास्त कर दिया। उन्होंने कहा, ''अज्ञानपूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्धक्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है।'' (२/७८-७९)

१४. बुद्ध ने द्वैतवादी देवता, ईश्वर आदि की किंचित् भी चिंता नहीं की, और जिन्हें नास्तिक तथा भौतिकवादी कहा गया है, वह एक साधारण बकरी तक के लिए प्राण देने को प्रस्तुत थे! उन्होंने मानव जाति में सर्वोच्च नैतिकता का प्रचार किया। जहाँ कहीं तुम किसी प्रकार का नीतिविधान पाओगे, वहीं देखोगे कि उनका प्रभाव, उनका प्रकाश जगमगा रहा है। (२/९७-९८)

१५. बुद्ध एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे – उन्होंने इन भावों में शक्ति का संचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। (१०/३९५)

१६. बुद्धदेव अन्य सभी धर्माचार्यों की अपेक्षा अधिक साहसी और निष्कपट थे। वे कह गये हैं, 'किसी शास्त्र में विश्वास मत करो। वेद मिथ्या हैं। यदि मेरी उपलब्धि के साथ वेद मिलते-जुलते हैं, तो वह वेदों का ही सौभाग्य है। मैं ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र हूँ; यज्ञयाग और प्रार्थना व्यर्थ है।' बुद्धदेव पहले मानव हैं जिन्होंने संसार को ही सर्वांगसम्पन्न नीतिविज्ञान की शिक्षा दी थी। वे शुभ के लिए ही शुभ करते थे, प्रेम के लिए ही प्रेम करते थे। (७/५१)

१७. जो धर्म उपनिषदों में केवल एक जातिविशेष के लिए आबद्ध था, उसका द्वार गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया और सरल लोकभाषा में उसे सबके लिए सुलभ कर दिया। उनका श्रेष्ठत्व उनके निर्वाण के सिद्धान्त

में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है। समाधि प्रभृति बौद्ध धर्म के वे श्रेष्ठ अंग, जिनके कारण उक्त धर्म को महत्ता प्राप्त है, प्रायः सबके सब वेदों में पाये जाते हैं; वहाँ यदि अभाव है, तो वह है बुद्धदेव की बुद्धि तथा उनका हृदय, जिनकी बराबरी जगत् के इतिहास में आज तक कोई नहीं कर सका। (१/३६०-६१)

□□□

१४

बुद्धधर्म

१. जहाँ तक दर्शन की बात है, तथागत के शिष्यों ने वेदों की सनातन चट्टानों पर बहुत हाथ-पैर पटके, पर वे उसे तोड़ न सके और दूसरी ओर उन्होंने जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर-नारी इतने अनुराग से आश्रय लेते है। फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करनी पड़ी। (१/२४)

२. बुद्ध ने वेदान्त को प्रकाशित किया, और उसका जनसाधारण में प्रचार करके भारतवर्ष की रक्षा की। बुद्ध के तिरोभाव के ठीक एक हजार वर्ष पश्चात् फिर उसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हुई। भीड़ की भीड़, जन साधारण तथा अनेक जातियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। अत: जनता के घोर अज्ञानी होने के कारण बौद्ध धर्म का अपक्षय होना स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म किसी ईश्वर या जगत् के शासक का उपदेश नहीं करता, अत: जनसाधारण शनैः शनैः अपने देवी-देवता, भूत-प्रेत पुन: ले आये और अन्त में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म नाना प्रकार के विषयों की खिचड़ी सा हो गया। (२/९३-९४)

३. पहले बौद्ध प्राणिहिंसा की निन्दा करते हुए वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो गये थे। उस समय घर घर इन यज्ञों का अनुष्ठान होता था। हर एक घर पर यज्ञ के लिए आग जलती थी – बस, उपासना के लिए और कुछ ठाट-बाट न था। बौद्ध धर्म के प्रचार से इन यज्ञों का लोप हो गया। उनकी जगह बड़े बड़े ऐश्वर्ययुक्त मन्दिर, भड़कीली अनुष्ठान-पद्धतियाँ, शानदार पुरोहित तथा वर्तमान काल में भारत में और जो कुछ दिखायी देता है, सबका आविर्भाव हुआ। कितने ही ऐसे आधुनिक पंडितों के, जिनसे

अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, ग्रन्थों को पढ़ने से यह विदित होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्ति-पूजा उठा दी थी। मुझे यह पढ़कर हँसी आ जाती है। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ही ने भारत में ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति-पूजा की सृष्टि की थी। (५/१५८)

४. भगवान् बुद्धदेव के प्रति मेरी यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति है। पर मेरे शब्दों पर ध्यान दो, बौद्ध धर्म का विस्तार उक्त महापुरुष के मत और अपूर्व चरित्र के कारण उतना नहीं हुआ, जितना बौद्धों द्वारा निर्माण किये गये बड़े बड़े मन्दिरों एवं भव्य प्रतिमाओं के कारण, समग्र देश के सम्मुख किये गये भड़कीले उत्सवों के कारण। इसी भाँति बौद्ध धर्म ने उन्नति की। इन सब बड़े बड़े मन्दिरों एवं आडम्बर भरे क्रियाकलापों के सामने घरों में हवन के लिए प्रतिष्ठित छोटे छोटे अग्निकुण्ड ठहर न सके। पर अन्त में इन सब क्रिया कलापों में भारी अवनति हो गयी। (५/११२)

५. सगुण ईश्वर के विरुद्ध बुद्ध के लगातार तर्क करने के फलस्वरूप भारत में प्रतिमा-पूजा का सूत्रपात हुआ! वैदिक युग में प्रतिमा का अस्तित्व नहीं था, उस समय लोगों की यही धारणा थी कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान है। किन्तु बुद्ध के प्रचार के कारण हम जगत्स्रष्टा एवं अपने सखास्वरूप ईश्वर को खो बैठे और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप प्रतिमा-पूजा की उत्पत्ति हुई। लोगों ने बुद्ध की मूर्ति गढ़कर पूजा करना आरम्भ किया। ईसा मसीह के सम्बन्ध में भी वैसा ही हुआ है। काठ-पत्थर की पूजा से लेकर ईसा और बुद्ध की पूजा तक सभी प्रतिमा - पूजा है; किसी न किसी प्रकार की मूर्ति के बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता। (७/३०)

६. वेदान्त का बौद्ध मत से कोई झगड़ा नहीं। वेदान्त का उद्देश्य ही है, सभी का समन्वय करना। उत्तर के बौद्धों के साथ हमारा तनिक भी झगड़ा नहीं है। किन्तु ब्रह्मदेश, स्याम तथा अन्य दक्षिण देशों के बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य परिदृश्यमान जगत् का ही अस्तित्व है, और वे हमसे पूछते हैं, 'इस परिदृश्यमान जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की – एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है?' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि यह आरोप मिथ्या है। वेदान्त

का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैस मान लो, किसीको रस्सी से सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है, तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं – वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा – उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो, तो वे इतना कह सकते हैं कि यह इन्द्रियग्राह्य जगत् ही – अस्तित्व में है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अपरिवर्तनीय सत्ता ही है कहने का अधिकार नहीं। (९/१७०)

७. 'अहिंसा परमो धर्मः' – बौद्ध धर्म का एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है, परन्तु अधिकारी का विचार न करके जबरदस्ती राज्य की शक्ति के बल पर उस मत को सर्वसाधारण पर लाद कर बौद्ध धर्म ने देश का सर्वनाश किया है। परिणाम यही हुआ कि लोग चींटियों को तो चीनी देते हैं, पर धन के लिए भाई का भी सर्वनाश कर डालते हैं। (६/१४३-४४)

८. "प्रभु (भगवान बुद्ध) कहते हैं कि, स्वार्थ भाव संसार के लिए एक अभिशाप है। हम स्वार्थी होते हैं, और उसी में यह शाप छिपा हुआ है। वास्तव में इस स्वार्थ से कुछ भी नहीं बनता। प्रकृति एक गूढ़ नियम की तरह तुम (नदी प्रवाह की तरह) सदा (आगे, आगे) बहते रहते हो। बहते हो – अस्थिर रहते हो। अब निःस्वार्थ होकर समझ-बुझ के साथ अपने पैरों पर दृढ़ हो जाओ। ईश्वर, आत्मा आदि की चिन्ता न करो। मात्र अच्छे के लिए ही अच्छा करो। इसमें न कोई भय हो न कोई आसक्ति।"

९. उत्तरी बौद्ध धर्म के अधिकांश अनुयायी मुक्ति में विश्वास रखते हैं – वे यथार्थतः वेदान्ती ही हैं। केवल सिंहल के बौद्ध निर्वाण को विनाश के समानार्थक रूप में ग्रहण करते हैं। (७/१११)

□□□

१५

येशु ख्रिस्त

१. परमात्मा से एकीभूत जीवात्मा ही शक्तिमान है, और कोई शक्तिमान नहीं। तुम्हारी बाइबिल में ही क्या तुम्हें मालूम है कि नाजरथ के ईसा मसीह की अद्भुत शक्ति का रहस्य क्या था? वही अमित, अनन्त शक्ति, जिसने हत्यारों की हँसी उड़ायी और उनको आशीर्वाद दिया, जो उनकी जान लेना चाहते थे। वह यह था कि 'मैं तथा मेरे पिता, एक हैं।' यह वही प्रार्थना थी कि 'परम पिता! जिस प्रकार मैं तुझसे एक हूँ, उसी प्रकार उन सबको मुझसे एक कर दे।' (२/२९०)

२. निर्गुण भाव से अनुप्राणित होकर ही ईसा मसीह ने कहा है – 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' इसी प्रकार का व्यक्ति लाखों व्यक्तियों में शक्ति-संचार करने में समर्थ होता है। और यह शक्ति सहस्रों वर्ष तक मनुष्यों के प्राणों में परित्राण देनेवाली शुभ-शक्ति का संचार करती रहती है। हम यह भी जानते हैं कि वे महापुरुष अद्वैतवादी थे, इसीलिए दूसरों के प्रति दयाशील थे। उन्होंने सर्वसाधारण को 'हमारा स्वर्गस्थ पिता' की शिक्षा दी थी। सगुण ईश्वर से उच्चतर अन्य किसी भाव की धारणा न कर सकनेवाले साधारण लोगों को उन्होंने स्वर्ग में रहनेवाले पिता से प्रार्थना करने का उपदेश दिया। जो कुछ अधिक सूक्ष्म भाव ग्रहण कर सकते थे, उनसे उन्होंने कहा, "मैं लता हूँ, तुम शाखाएँ हो।" किन्तु अपने जिन शिष्यों के प्रति उन्होंने अपने को अधिक पूर्णता से प्रकट किया, उनसे उन्होंने सर्वोच्च सत्य की घोषणा की – 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' (२/९७)

३. ईसा के जीवन पर लिखी गयी विभिन्न आख्यायिकाएँ हमने पढ़ी हैं। उनकी जीवनी के समालोचक विद्वज्जनों, उनकी ग्रन्थावलियों तथा 'उच्चतर भाष्यादि'* से भी हमारा परिचय है। इन सब आलोचनाओं द्वारा क्या सम्पदित किया गया है, इससे भी हम अज्ञ नहीं हैं। हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है कि बाइबिल के नव व्यवस्थान का कितना अंश सत्य है, अथवा उसमें वर्णित ईसा मसीह का जीवन-चरित्र कहाँ तक ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक नव व्यवस्थान लिखा जा चुका था या नहीं, अथवा ईसा के जीवन-चरित्र में कितना सत्यांश है, इससे भी हमें कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इन सब लेखों का आधार एक ऐसी वस्तु है, जो अवश्य सत्य है, अनुकरणीय है। मिथ्या प्रलाप करने के लिए भी हमें किसी सत्य की नकल करनी पड़ती है, और सत्य सदैव वास्तविक ही होता है। जिसका कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था, उसका अनुकरण भी कैसा? जिसे किसीने कभी देखा नहीं, उसकी नकल कैसे हो सकती है? इसलिए यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि बाइबिल की कथाएँ कितनी ही अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण क्यों न हों, उस कल्पना का अवश्य कोई आधार था – निश्चित ही उस युग में, जगत् में किसी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ था – और उसीकी आज हम चर्चा कर रहे हैं। उस महाशक्ति के अस्तित्व में जब हमें कोई सन्देह नहीं है, तब हमें पण्डित वर्ग द्वारा की गयी आलोचनाओं का क्या भय? यदि एक प्राच्यदेशीय के रूप में मैं नाजरथ-निवासी ईसा की उपासना करूँ, तो मेरे लिए ऐसा करने की केवल एक ही विधि है – और वह है उनकी ईश्वर के समान आराधना करना। उनकी अर्चना की और कोई विधि मैं नहीं जानता। (७/२२३)

* उच्चतर भाष्य (Higher or Historical criticism) – इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से बाइबिल के विभिन्न अंशों की रचना, रचना-काल तथा उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार करनेवाला साहित्य। (Textual or Verbal criticism) अर्थात् बाइबिल के वाक्य एवं शब्द-राशि सम्बन्धी चर्चा से इसके पृथक् एवं उच्चतर होने के कारण इसे 'उच्चतर भाष्य' कहा गया है।

४. सच्चे सुख और यथार्थ सफलता का महान् रहस्य यह है कि बदले में कुछ भी न चाहनेवाला बिल्कुल निःस्वार्थी व्यक्ति ही सबसे अधिक सफल व्यक्ति होता है। यह तो एक विरोधाभास सा है; क्योंकि क्या हम यह नहीं जानते कि जो निःस्वार्थी हैं, वे इस जीवन में ठगे जाते हैं, उन्हें चोट पहुँचती है? ऊपरी तौर से देखो, तो यह बात सच मालूम होती है। 'ईसा मसीह निःस्वार्थी थे, पर तो भी उन्हें सूली पर चढ़ाया गया,' – यह सच है; किन्तु हम यह भी जानते हैं कि उनकी निःस्वार्थपरता एक महान् विजय का कारण है – और वह विजय है कोटि कोटि जीवनों पर सच्ची सफलता के वरदान की वर्षा। (९/१७८)

५. आधुनिक मनुष्य से वैराग्य की बात कहना अत्यन्त कठिन है। अमेरिका में मेरे बारे में लोग कहते थे कि मैं पाँच हजार वर्ष तक मृत और विस्मृत एक देश से आकर वैराग्य का उपदेश दे रहा हूँ। इंग्लैण्ड के दार्शनिक भी शायद ऐसा ही कहें। पर यह भी सत्य है कि धर्म का एकमात्र पथ यही है। त्याग दो और विरक्त बनो। ईसा ने क्या कहा है? 'जो मेरे निमित्त अपने जीवन का त्याग करेगा, वही जीवन को प्राप्त करेगा।' पूर्णता की प्राप्ति के लिए त्याग ही एकमात्र साधन है, इसकी शिक्षा उन्होंने बारंबार दी है। (२/५४-५५)

६. 'पवित्रहृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि वे ईशदर्शन करेंगे।' 'महान् स्वर्ग-राज्य तुम्हारे ही अन्तर में विराजमान है।' और इसीलिए का नाजरथ यह महान् पैगम्बर पूछता है, 'जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विराजमान है, तो उसे ढूँढ़ने अन्यत्र कहाँ जा रहे हो?' अपनी आत्मा को माँज-धोकर स्वच्छ करो, और वह तत्काल मिल जायगा। वह तो पहले से ही तुम्हारा है। यदि वह तुम्हारा न होता, तो तुम कैसे पा सकते? तुम उसके अधिकारी हो। (७/२२६)

७. चर्चों में सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान इत्यादि का उपदेश चाहे जितना हो, पर पूजा के विषय में, धर्म के यथार्थ व्यावहारिक अंश के विषय में वैसा

ही करना चाहिए, जैसा ईसा ने कहा है, 'जब तुम प्रार्थना करो, तब अपने कमरे के अन्दर चले जाओ और जब दरवाजा बन्द कर लो, तब अपने पिता से प्रार्थना करो, जो गुप्त है।' (९/५६-५७)

८. उनके धर्म-प्रचार काल के तीन वर्ष तो मानो एक घनीभूत युग के सदृश थे, जिसके प्रस्फुटन में पूरी उन्नीस शताब्दियाँ लग गयी हैं, और न जाने कितनी और लगेंगी! मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जन केवल अल्पमात्र शक्ति के वाहक हैं। कुछ क्षण, कुछ घटिकाएँ, कतिपय मास, ज्यादा से ज्यादा कुछ वर्ष, बस ये उस अल्प शक्ति के व्यय के लिए, उसके पूर्ण प्रसरण और अधिकतम विकास के लिए पर्याप्त हैं; और उसके बाद हम सदा के लिए चल बसते हैं। किन्तु हमारे अवतीर्ण होनेवाले इस असाधारण पुरुष की ओर जरा देखो। कई शताब्दियाँ बीत गयीं, किन्तु वे जगत् में जिस शक्ति का संचार कर गये, उसका प्रसार-कार्य अभी तक रुका नहीं, उसका पूर्ण व्यय अभी तक हुआ नहीं। ज्यों ज्यों युग पर युग बीतते जा रहे हैं, त्यों त्यों वह नूतन बल से बलवती होती जा रही है। (७/२१५-१६)

९. त्रित्ववादियों* (Trinitarians) के ईसा हमसे बहुत ही उच्च स्तर पर स्थित हैं। एकत्ववादियों (Unitarians) के ईसा एक साधु पुरुष मात्र हैं। इन दोनों में कोई भी हमारी सहायता नहीं कर सकता। किन्तु जो ईसा ईश्वर के अवतार हैं, जो अपने ईश्वरत्व को नहीं भूलते, वे ईसा ही हमारी सहायता कर सकते हैं। उनमें किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है। इन सभी अवतारों को अपने ईश्वरत्व का ज्ञान सदैव रहता है, और वह उन्हें अपने जन्मकाल से ही रहता है। वे उन अभिनेताओं के समान हैं, जिनका अपना अभिनय समाप्त हो चुका है, जिनका निजी अन्य कोई प्रयोजन नहीं है तो भी जो दूसरों को आनंद देने के लिए रंगमंच पर बारम्बार आते रहते हैं। इन महापुरुषों को संसार की कोई वस्तु नहीं छू पाती। वे हमें कुछ काल

* त्रित्ववादी (Trinitarians) के मत में पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के भेद से एक ही ईश्वर तीन हैं। दूसरे सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं ईसा मनुष्य मात्र थे।

तक शिक्षा देने भर के लिए हमरा रूप और सीमाएँ धारण करके आते हैं, वे ऐसा अभिनय करते हैं, मानो वे हमारे ही सदृश बद्ध हैं, किन्तु वास्तव में वे सीमित नहीं होते, वे सर्वदा मुक्तस्वभाव ही रहते हैं। (७/८)

१०. आत्मशुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है? – त्याग द्वारा। एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पुछा, "प्रभो, अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिए मैं क्या करूँ?" ईसा बोले, "तुझमें एक बड़ी कमी है। जाकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाल। जो धन प्राप्त हो, उसे गरीबों को दे दे। तुझे स्वर्ग में अक्षय धन-सम्पदा प्राप्त होगी। उसके बाद 'क्रूस' धारण कर मेरा अनुगमन कर।" धनी युवक यह सुनकर अत्यन्त उदास हो गया और दुःखी होकर चला गया, क्योंकि उसके पास विशाल संपत्ति थी। हम सब न्यूनाधिक अंशों में उसी युवक के समान हैं। रात-दिन हमारे कानों में यही वाणी ध्वनित होती रहती है। हम अपने आनन्द और विषयोपभोग के क्षणों में सोचते हैं कि हम और सब कुछ भूल गये हैं। पर जब कभी क्षण भर का विराम आता है, तो हमारे कानों में वही ध्वनि गूँजने लगती है, 'अपना सर्वस्व त्याग कर मेरा अनुसरण कर।' (७/२२६)

□□□

१६

ख्रिस्त धर्म

१. ईसाई धर्म के सबसे गम्भीर तथा उदात्त विचार यूरोप में कभी समझे नहीं गये, क्योंकि बाइबिल में उल्लिखित चिन्तन तथा कल्पनाएँ उनके लिए विजातीय थीं। (२/२३१)

२. 'सतर्क रहो, प्रार्थना करो – कारण, भगवान् का राज्य अति निकट है।' अर्थात् चित्तशुद्धि करके प्रस्तुत हो। और यह भाव कभी भी नष्ट नहीं हुआ। तुम लोगों को शायद स्मरण हो कि ईसाई लोग अज्ञानावस्था से ही, अति अन्धविश्वासग्रस्त ईसाई देशों में भी औरों की सहायता करने, चिकित्सालय आदि सत् कार्यों द्वारा अपने को पवित्र कर ईश्वर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जितने दिन तक वे इस लक्ष्य पर स्थिर रहेंगे, उतने दिन तक उनका धर्म जीवित रहेगा। (३/१३६-३७)

३. हिन्दू और ईसाई धर्म में जो प्रधान भेद है, वह केवल यही कि ईसाई धर्म कहता है कि इस संसार में जन्म के साथ ही मनुष्य की आत्मा का प्रारम्भ हुआ, और हिन्दू धर्म कहता है कि मानवात्मा उस सनातन परमात्मा की एक किरण मात्र है, अत: स्वयं ईश्वर की तरह उसका भी आदि नहीं। यह मानवात्मा देह से देहान्तर में संक्रमित हो रही है, इस प्रवास में वह कितने ही भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त हुई है एवं होगी। आध्यात्मिक विकास के उस महान् नियमानुसार वह अधिकाधिक अभिव्यक्त हो रही है, परन्तु जब वह सम्पूर्ण अभिव्यक्त हो जायगी, तब उसमें और अधिक परिणाम न होगा। (१/२५४)

४. प्राय: प्रत्येक धर्म में हम तीन मुख्य बातें देखते हैं, जिनके द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती है। वे हैं प्रतिमाएँ या प्रतीक, नाम और देव-मानव। प्रत्येक धर्म में ये बातें हैं और फिर भी लोग एक दूसरे से लड़ना चाहते हैं। एक कहता है, ''यदि संसार में कोई प्रतिमा सच्ची है, तो वह मेरे धर्म की; कोई नाम सच्चा है, तो मेरे धर्म का और कोई देव-मानव है, तो मेरे ही धर्म का। तम्हारे तो केवल कपोलकल्पित हैं।'' इन दिनों ईसाई पादरी कुछ नरम हो गये हैं। वे मानने लगे हैं कि पुराने धर्मों के विभिन्न पूजा-प्रकार ईसाई धर्म के पूर्वाभास मात्र हैं, परन्तु फिर भी उनके मत से ईसाई धर्म ही सच्चा धर्म है। ईसाई उत्पन्न करने के पहले ईश्वर ने अपनी शक्तियाँ जाँच लीं, इन पूजा-पद्धतियों का निर्माण कर उसने अपने बलाबल को नापा और अन्त में ईसाई धर्म की उत्पत्ति हुई। उनका आजकल ऐसा कहना कुछ कम प्रगतिसूचक नहीं है। पचास वर्ष पूर्व तो वे लोग यह भी स्वीकार करने को तैयार न थे; उनके धर्म को छोड़कर और अन्य कुछ भी सत्य न था। यह भाव किसी धर्म, किसी एक राष्ट्र या किसी एक जाति का वैशिष्ट्य नहीं है; लोग तो हमेशा यही सोचते रहे हैं कि जो कुछ वे करते आये हैं, वही ठीक है और अन्य लोगों को भी वैसा ही आचरण करना चाहिए। विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें यहाँ बहुत सहायता मिलेगी। इस अध्ययन से यह मालूम हो जायगा कि जिन विचारों को हम अपने – केवल अपने – कहते आये हैं, वे सैकड़ों वर्ष पूर्व दूसरे लोगों के मन में विद्यमान थे, और कभी कभी तो उनका व्यक्त रूप हमारे अपने विचारों से कहीं अधिक अच्छा था। (३/२४७)

५. मूल में सभी धर्म समान हैं। सत्य तो यही है, यद्यपि ईसाई मत (Christian Church) आख्यायिका में वर्णित 'फ़ैरिसी' की तरह, ईश्वर को धन्यवाद देता है कि केवल उसीका धर्म सत्य है, और सोचता है कि अन्य सब धर्म असत्य हैं तथा उन्हें ईसाइयों से ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। इससे पहले कि संसार ईसाई मत के साथ उदारतापूर्वक सहयोग करे, ईसाई मत को सहिष्णु होना पड़ेगा। ईश्वर प्रत्येक हृदय में साक्षी के रूप

में विद्यमान है, और लोगों को, विशेषत: ईसा मसीह के अनुयायियों को, तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। वास्तव में, ईसा मसीह तो प्रत्येक अच्छे मनुष्य को भगवान के परिवार में सम्मिलित कर लेना चाहते थे। (३/१७०)

□□□

१७

महंमद और इस्लाम

१. हमारी दृष्टी समानता के उस महान् सन्देशवाहक पैगम्बर मुहम्मद साहब की ओर जाती है। शायद तुम पूछोगे कि उनके धर्म में क्या अच्छाई है? पर यदि उसमें अच्छाई न होती, तो वह आज तक जीवित कैसे रह पाता? केवल शुभ ही जीवित रह सकता है, केवल वही बच रहता है; क्योंकि जो कल्याणकर है, वही सबल और दृढ़ है, और इसलिए वही अनन्त जीवन का भी अधिकारी होता है। इस जीवन में भी अपवित्र और दुराचारी का जीवन-काल कितना होता है? क्या पवित्र साधु व्यक्ति उससे दीर्घायु नहीं होता? निश्चित, क्योंकि साधुता ही शक्ति, पवित्रता ही बल है। यदि इस्लाम में कोई अच्छाई, कोई शुचिता न होती तो वह आज तक जीवित कैसे रह पाता? नहीं, इस्लाम में यथेष्ट अच्छाई है। (७/१९१)

२. पैग़म्बर मुहम्मद साहब दुनिया में समता, बराबरी के सन्देश-वाहक थे – वे मानव जाति में, मुसलमानों में भातृ-भाव के प्रचारक थे। (७/१९१-९२)

३. पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने अपने जीवन के दृष्टान्त से यह दिखला दिया कि मुसलमान मात्र में सम्पूर्ण साम्य एवं भ्रातृ-भाव रहना चाहिए। उनके धर्म में जाति, मतामत, वर्ण, लिंग आदि पर आधारित भेदों के लिए कोई स्थान न था। तुर्किस्तान का सुल्तान अफ्रिका के बाजार से एक हब्शी गुलाम खरीदकर, उसे जंजीरों में बाँधकर अपने देश में ला सकता है। किन्तु यदि यही गुलाम इस्लाम को अपना ले और उपयुक्त गुणों से विभूषित हो, तो

उसे तुर्की की शाहजादी से निकाह करने का भी हक़ मिल जाता है। मुसलमानों की इस उदारता के साथ जरा इस देश (अमेरिका) में हब्शियों (नीग्रो) एवं रेड इंडियन लोगों के प्रति किये जानेवाले घृणापूर्ण व्यवहार की तुलना तो करो। हिन्दू भी और क्या करते हैं? यदि तुम्हारे देश का कोई धर्म-प्रचारक (मिशनरी) भूलकर किसी 'सनातनी' हिन्दू के भोजन को स्पर्श कर ले, तो वह उसे अशुद्ध कहकर फेंक देगा। हमारा दर्शन उच्च और उदार होते हुए भी हमारा व्यवहार, हमारा आचार हमारी कितनी दुर्बलता का परिचायक है! किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में हम इस दिशा में मुसलमानों को अत्यन्त प्रगतिशील पाते हैं। जाति या वर्ण का विचार न कर, सबके प्रति समान भाव – बन्धुभाव का प्रदर्शन – यही इस्लाम की महत्ता है, इसीमें उसकी श्रेष्ठता है। (७/१९२)

४. सब पुराने धर्मों के आज भी जीवित रहने से प्रमाणित होता है कि उन्होंने निश्चय ही उस उद्देश्य को अटूट रखा है। उनके भ्रान्त होने पर भी, उनमें विघ्न-बाधा होने पर भी, उनमें विवाद-विसंवाद होने पर भी, उनके ऊपर तरह तरह के अनुष्ठान और निर्दिष्ट प्रणाली की आवर्जनास्तूप के संचित होने पर भी, उनमें से प्रत्येक का हृदय स्वस्थ है – वह जीवंत हृदय की तरह स्पन्दित हो रहा है – धड़क रहा है। जो महान् उद्देश्य लेकर वे आये हैं, उनमें से एक को भी वे नहीं भूले। उस उद्देश्य का अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण है। दृष्टान्तस्वरूप मुसलमान धर्म की बात लो। जैसे ही एक आदमी ने मुसलमान धर्म ग्रहण किया, सारे मुसलमानों ने उसकी पिछली बात को छोड़, उसे भाई कहकर छाती से लगा लिया। ऐसा कोई भी धर्म नहीं करता। यदि एक अमेरिकन आदिवासी मुसलमान हो जाय, तो तुर्की के सुलतान भी उसके साथ भोजन करने में आपत्ति न करेंगे और यदि वह शिक्षित और बुद्धिमान हो, तो राज-काज में भी कोई पद प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस देश में मैंने एक भी ऐसा गिरजा नहीं देखा, जहाँ गोरे और काले पास पास घुटने टेककर प्रार्थना कर सकें। (३/१३५-३६)

५. इस्लाम धर्म अपने सब अनुयायियों को समभाव से देखता है।

इसीसे तुम देखते हो कि मुसलमान धर्म की यह विशेषता और श्रेष्ठत्व है। (३/१३६)

६. मुसलमान अच्छे अच्छे पीरों-फ़क़िरों की पूजा करते हैं और नमाज के समय काबे की ओर मुँह करते हैं। यह सब देखकर जान पड़ता है कि धर्म-साधना की प्रथमावस्था में मनुष्यों को कुछ बाह्य अवलम्बनों की आवश्यकता पड़ती है। जिस समय मन खूब शुद्ध हो जाता है, उस समय सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों में चित्त एकाग्र करना सम्भव हो सकता है। (५/२५३)

७. हम लोगों के सम्मुख एक भ्रान्त वक्तव्य दिया गया है कि मुसलमानों का यह विश्वास है कि स्त्रियों के आत्मा नहीं होती है। मुझे यह कहने में बड़ा दुःख हो रहा है कि ईसाई लोगों में यह भ्रान्त धारणा बहुत पुरानी है और ऐसा जान पड़ता है कि वे इस भूल को पसन्द करते हैं। अब तुम जानते हो कि मैं मुसलमान नहीं हूँ, लेकिन फिर भी मुझे इस धर्म के अध्ययन का अवसर मिल चुका है और क़ुरान का एक शब्द भी यह नहीं कहता कि महिलाओं के आत्मा नहीं होती, वस्तुतः वह कहता है कि उनमें आत्मा होती है। (४/१४७)

८. इग्लैण्ड के पास हथियार है, सांसारिक समृद्धि है, वैसे ही जैसे उससे पहले हमारे मुसलमान विजेताओं के पास थी। फिर भी महान् अकबर व्यावहारिक रूप में हिन्दू हो गया था, शिक्षित मुसलमानों, सूफ़ियों को हिन्दुओं से अलग कर पाना बहुत कठिन है। वे गोमांस नहीं खाते और दूसरी बातों में भी उनका रहन-सहन हमारे समान है। हमारे विचार उनके विचारों में रम गये हैं।'' (४/२३७)

९. वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इस्लाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इस्लाम धर्म संसार के अन्यान्य देशों के इस्लाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशों के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानों को फुसलाते हैं कि तुम विधर्मियों के साथ मिल जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दंगा-फ़साद मचाते हैं। (१०/३७७)

१०. चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसीके दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद का – जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसीके अनुकूल आचरण करता है – विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी शेष है।

इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत् के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, इस समानता को योग्य अंश में ला सके हैं तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी हैं। (६/४०५)

११. इसलिए हमें दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों परन्तु व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, मनुष्य जाति के महान् जनसमूह के लिए वे मूल्यहीन हैं। (६/४०५)

१२. हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य – हिन्दुत्व और इस्लाम – वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर – यही एक आशा है। (६/४०५)

१३. मैं अपने मानस - चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा। (६/४०६)

□□□

१८

श्रीरामकृष्ण

१. सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसे एक पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी आवश्यकता पड़ी थी, और वह उत्पन्न हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरों की अपेक्षा विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। वहाँ पुस्तकीय ज्ञान से हर प्रकार से अनभिज्ञ वह रहता था, यह महाप्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नहीं जानता था।* किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बड़े बड़े अत्यन्त प्रतिभावान स्नातकों ने उसको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया। वे अद्भुत महापुरुष थे – श्री रामकृष्ण परमहंस। यह तो एक बड़ी लम्बी कहानी है, आज रात को तुम्हें उनके विषय में कुछ भी बताने का समय नहीं है। इसलिए मुझे भारतीय सब महापुरुषों के पूर्णप्रकाशस्वरूप, युगाचार्य श्री रामकृष्ण का उल्लेख भर करके आज समाप्त करना होगा। उनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष कल्याणकारी हैं। उनके भीतर जो ईश्वरीय शक्ति थी, उस पर विशेष ध्यान दो। वे एक दरिद्र

* सामान्यत: यह प्रचलित है कि वे बिल्कुल निरक्षर थे, पर बाद में अनुसंधान से पता चला कि वे थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना भी जानते थे। – संपादक।

ब्राह्मण के लड़के थे। उनका जन्म बंगाल के सुदूर, अज्ञात, अपरिचित किसी एक गाँव में हुआ था। आज यूरोप, अमेरिका के सहस्त्रों व्यक्ति वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं, भविष्य में और भी सहस्त्रों मनुष्य उनकी पूजा करेंगे। (५/१६१-६२)

२. मैं जिन विचारों का सन्देश देना चाहता हूँ, वे सब उनके विचारों को प्रतिध्वनित करने की मेरी अपनी चेष्टा है। इसमें मेरा अपना निजी कोई भी मौलिक विचार नहीं; हाँ, जो कुछ असत्य अथवा बुरा है, वह अवश्य मेरा ही है। पर हर ऐसा शब्द, जिसे मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ और जो सत्य एवं शुभ है, केवल उन्हींकी वाणी को झंकार देने का प्रयत्न मात्र है। (१०/९)

३. हमें चाहिए आध्यात्मिक आदर्श। आध्यात्मिक महापुरुषों के नाम पर हमें सोत्साह एक हो जाना चाहिए। हमारे आदर्श पुरुष आध्यात्मिक होने चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस हमें एक ऐसा ही आदर्श पुरुष मिला है। यदि यह जाति उठना चाहती है, तो मैं निश्चयपूर्वक कहूँगा कि इस नाम के चारों ओर उत्साह के साथ एकत्र हो जाना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस का प्रचार हम, तुम या चाहे जो कोई करे, इससे प्रयोजन नहीं। तुम्हारे सामने मैं इस महान् आदर्श पुरुष को रखता हूँ, और अब इस पर विचार करने का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श पुरुष को लेकर क्या करोगे, इसका निश्चय तुम्हें अपनी जाति, अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अभी कर डालना चाहिए। एक बात हमें याद रखनी चाहिए कि तुम लोगों ने जितने महापुरुष देखे हैं और मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा कि जितने भी महापुरुषों के जीवन-चरित पढ़े हैं, उनमें इनका जीवन सबसे पवित्र था, और तुम्हारे सामने यह तो स्पष्ट ही है कि आध्यात्मिक शक्ति का ऐसा अद्भुत आविर्भाव तुम्हारे देखने की तो बात ही अलग, इसके बारे में तुमने कभी पढ़ा भी न होगा। उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने सम्पूर्ण संसार को घेर लिया है, यह तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतएव कर्तव्य की प्रेरणा से अपनी जाति और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने

प्रस्तुत करता हूँ। मुझे देखकर उसकी कल्पना न करना। मैं एक बहुत ही दुर्बल माध्यम मात्र हूँ। उनके चरित्र का निर्णय मुझे देखकर न करना। वे इतने बड़े थे कि मैं या उनके शिष्यों में से कोई दूसरा सैकड़ों जीवन तक चेष्टा करते रहने के बावजूद भी उनके यथार्थ स्वरूप के एक करोड़वें अंश के तुल्य भी न हो सकेगा। तुम लोग स्वयं ही अनुमान करो। तुम्हारे हृदय के अन्तस्तल में वे 'सनातन साक्षी' वर्तमान हैं, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि हमारी जाति के कल्याण के लिए, हमारे देश की उन्नति के लिए तथा समग्र मानव जाति के हित के लिए वही श्रीरामकृष्ण परमहंस तुम्हारा हृदय खोल दें; और इच्छा-अनिच्छा के बावजूद भी जो महायुगान्तर अवश्यम्भावी है, उसे कार्यान्वित करने के लिए वे तुम्हें सच्चा और दृढ़ बनावें। तुम्हें और हमें रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नहीं सकता, अपने कार्य के लिए वे धूलि से भी सैकड़ों और हजारों कर्मी पैदा कर सकते हैं। उनकी अधीनता में कार्य करने का अवसर मिलना ही हमारे परम सौभाग्य और गौरव की बात है। (५/२०९)

४. यदि मनसा, वाचा, कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो, यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो, जिससे संसार के किसी भी मनुष्य का कुछ उपकार हुआ हो, तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं, वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो, यदि मुझसे कभी किसीके प्रति घृणा का भाव निकला हो, तो वे मेरे हैं, उनके नहीं! जो कुछ दुर्बल है, वह सब मेरा है, पर जो कुछ भी जीवनप्रद है, बलप्रद है, पवित्र है, वह सब उन्हींकी शक्ति का खेल है, उन्हींकी वाणी है और वे स्वयं हैं। मित्रो, यह सत्य है कि संसार अभी तक उन महापुरुष से परिचित नहीं हुआ। हम लोग संसार के इतिहास में शत शत महापुरुषों की जीवनी पढ़ते हैं। इसमें उनके शिष्यों के लेखन एवं कार्य-संचालन का हाथ रहा है। हजारों वर्ष तक लगातार उन लोगों ने उन प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरितों को काट-छाँटकर सँवारा है। परन्तु इतने पर भी जो जीवन मैंने अपनी आँखों देखा है, जिसकी छाया में मैं रह चुका हूँ, जिनके चरणों में बैठकर मैंने

सब सीखा है, उन श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन जैसा उज्ज्वल और महिमान्वित है, वैसा मेरे विचार में और किसी महापुरुष का नहीं। (५/२०६)

५. वें यह जान गये थे कि सभी धर्मों का मुख्य भाव है कि 'मैं कुछ नहीं – तू ही सब कुछ है'; और जो कहता है – मैं नहीं – बस, उसीके हृदय को ईश्वर परिपूर्ण कर देते हैं। यह क्षुद्र अहंभाव जितना ही कम होता है, उतनी ही उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। संसार के प्रत्येक धर्म में उन्हें यही सत्य मिला और स्वयं उसीको संपादित करने में वे दत्तचित्त हो गये; मैं परम भाग्यशाली था कि मुझे सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करनेवाले गुरुदेव मिल गये। जिस वस्तु को वे सत्यरूप समझते थे, उसको कार्यरूप में परिणत कर डालने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। (७/२५५)

६. हमारे गुरु एक वृद्धजन थे, जो एक सिक्का भी कभी हाथ से नहीं छूते थे। बस जो कुछ थोड़ा सा भोजन दिया जाता था, वे उसे ही ले लेते थे, और कुछ गज़ कपड़ा – अधिक कुछ नहीं। उन्हें और कुछ स्वीकार करने के लिए कोई प्रेरित ही न कर पाता था। (१०/९)

७. अपने गुरुदेव के सहवास में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा, वह अच्छा ही दिखा। यही महान् पवित्रता तथा महान त्याग आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है। (७/२६४)

८. काम-कांचन पर पूर्ण विजय के वे जिवंत एवं जाज्वल्यमान उदाहरण थे। वे इन दोनों बातों की कल्पना के भी परे थे और इस शताब्दी के लिए ऐसे ही महापुरुषों की आवश्यकता है। आजकल के दिनों में ऐसी ही त्याग की आवश्यकता है; विशेषकर जब लोग यह समझते हैं कि उन चीजों के बिना वे एक मास भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे अपनी आवश्यकताएँ कहते हैं और जिनकी संख्या वे दिन पर दिन अधिकाधिक बढ़ाते जा रहे

हैं। आज-कल के समय में ही यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसा मनुष्य उठकर संसार के अविश्वासी पुरुषों को यह दिखा दे कि आज भी एक ऐसा महापुरुष है, जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति की तृण भर भी परवाह नहीं करता। (७/२६४-६५)

९. वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है, तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं – मैं स्वयं कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा। मेरे गुरुदेव किसीको ढूँढ़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चरित्रवान होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा, एक दृष्टान्त दिया करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती है – इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्ररूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जायगा और जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि सारे फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायँगे।' (७/२५७)

१०. मैं तुम्हें एक फुल दे सकता हूँ, उसी प्रकार उससे भी अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी संप्रेषित किया जा सकता है। और यह बात अक्षरश: सत्य है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद उसे तुम अनेक को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। (७/२५८)

११. इन अद्भुत महापुरुष के दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे और मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी एवं उद्भासित होता था। क्योंकि यह कथ्य नहीं, और जिस भाषा में यह कहा जाता है, वह और नहीं, वरन् वक्ता का व्यक्तित्व ही उसका प्राण है, यही उसमें शक्ति भर देता है। जो पुरुष अपने शब्दों में अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकता है, उसके शब्द प्रभावशाली होते हैं। परन्तु बात यह है कि उस मनुष्य का व्यक्तित्व ही

असाधारण होना चाहिए। (७/२५९)

१२. बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में एवं पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था, यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिये तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी। मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है।" अत: प्रथम स्वयं तुम्हीं आत्मज्ञानी हो जाओ तथा संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और फिर संसार के सम्मुख देने के लिए खड़े होओ। (७/२६०)

१३. स्वयं अनुभव द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं – अन्तर केवल पद्धति तथा विशेष रूप से भाषा में रहता है। वस्तुत: सब पंथों तथा धर्मों का ध्येय मूलत: एक ही है। (७/२५४-५५)

१४. मेरे गुरुदेव का मानव जाति के लिए यह सन्देश है कि 'प्रथम स्वयं धार्मिक बनो और सत्य की उपलब्धि करो।' वे चाहते थे कि तुम अपने भ्रातृ-स्वरूप समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी ऐसी इच्छा थी कि भ्रातृ-प्रेम के विषय में बातचीत बिल्कुल न करो, वरन् अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग तथा प्रत्यक्षानुभूति का समय आ गया है, और इनसे ही तुम जगत् के सभी धर्मों में सामंजस्य देख पाओगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानव जाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्त्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्म-संस्थापकों ने स्वतन्त्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के इन महापुरुष ने स्वयं के लिए कोई भी दावा नहीं

किया। उन्होंने किसी धर्म को क्षुब्ध नहीं किया, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया था कि वास्तव में सब धर्म एक ही 'चिरन्तन धर्म' के अभिन्न अंग हैं। (७/२६७)

१५. आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और सतत विद्यमान, आपातप्रतीयमान अनेकश: विभक्त, सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्डसमष्टि के बीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिए – तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिए श्री भगवान् रामकृष्ण अवतीर्ण हुए। (१०/१४०-४१)

१६. श्रीरामकृष्ण का जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाश में हिन्दू धर्म के विभिन्न अंग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रों में निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञान के वे प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप थे। ऋषि और अवतार हमें जो वास्तविक शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने जीवन द्वारा दिखा दिया है। शास्त्र मतवाद मात्र हैं, रामकृष्ण उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति। उन्होंने ५१ वर्ष में पाँच हजार वर्ष का राष्ट्रीय आध्यात्मिक जीवन जिया और इस तरह वे भविष्य की सन्तानों के लिए अपने आपको एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गये। विभिन्न मत एक एक अवस्था या क्रम मात्र हैं – उनके इस सिद्धान्त से वेदों का अर्थ समझ में आ सकता है और शास्त्रों में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उसीके अनुसार दूसरे धर्म या मत के लिए हमें केवल सहनशीलता का प्रयोग नहीं करना चाहिए, वरन् उन्हें स्वीकार कर जीवन में प्रत्यक्ष परिणत करना चाहिए, और उसीके अनुसार सत्य ही सब धर्मों की नींव है। (३/३३९)

१७. इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित

होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जन-समाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारत के लिए, महा कल्याणकारी है; और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान् रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मुर्दे की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं; बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं – यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो। (१०/१४२)

□□□

१९

उपनिषद्

१. वेदों में ज्ञानकांड जिसे उपनिषद् कहते है उन्हें ही वेदान्त या श्रुति भी कहते हैं। आचार्य लोग जब कभी श्रुति का कोई वाक्य उद्धृत करते हैं तो वह उपनिषद् का ही होता है। यही वेदान्त धर्म इस समय हिन्दुओं का धर्म है। यदि कोई सम्प्रदाय सिद्धान्तों की दृढ़ प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे वेदान्त का ही आधार लेना होगा। (५/३४४)

२. उपनिषदों का विषय एक है, उद्देश्य एक है – निम्नलिखित विचार को स्थापित करना – 'मिट्टी के एक टुकड़े के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने से हम संसार की सभी मिट्टी के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अवश्य ऐसा कोई तत्त्व है, जिसको जान लेने से हम संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर ले सकते हैं। वह तत्त्व क्या है? (९/६७)

३. उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित, सशक्त और वीर्यसम्पन्न हो सकता है। समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुःखी, पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता – दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों के मूल मंत्र हैं। (५/१३३-३४)

४. आजकल की भाषा में अगर कहा जाय तो यही कहना चाहिए

कि उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है, और भिन्नत्व में एकत्व की खोज ही ज्ञान है। हर एक विज्ञान इसी नींव पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यों का सम्पूर्ण ज्ञान भिन्नत्व में एकत्व की खोज पर ही प्रतिष्ठित है। और, यदि दृश्य जगत् की थोड़ी सी घटनाओं में ही एकत्व के अनुसन्धान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो तो इस अपूर्व विचित्रतासंकुल विश्व के भीतर, हम जिसके नाम और रूपों में सहस्रधा वैभिन्न्य देख रहे हैं, जहाँ जड़ और चेतन में भेद वर्तमान हैं, जहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ एक दूसरी से भिन्न हैं, जहाँ कोई रूप किसी दूसरे से नहीं मिलता, जहाँ प्रत्येक वस्तु अपर वस्तु से पृथक् है, एकत्व का आविष्कार करने का हमारा उद्देश्य कितना कठिन है! परन्तु इन विभिन्न स्तरों और अनन्त लोकों के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदों का लक्ष्य है। (५/२८९)

५. उपनिषदों में हमें पूर्वप्रचलित धारणाओं की तुलना में विराट अंतर मिलता है। उपनिषदों में कहा है, यह सब स्वर्ग जहाँ मनुष्य जाकर पितृगण के साथ रहता है, कभी नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि नाम-रूपात्मक सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। यदि स्वर्ग साकार है, तो काल के अनुसार उस स्वर्ग का अवश्य नाश होगा। हो सकता है, वह लाखों वर्ष रहे, किन्तु अन्त में ऐसा एक समय अवश्य आयेगा कि उसका नाश होगा, और अवश्य होगा। इसीके साथ एक और भी धारणा लोगों के मन में आयी और वह यह कि ये सब आत्माएँ दुबारा इसी पृथ्वी पर लौट आती हैं। स्वर्ग केवल उनके शुभ कर्मों के फलभोग का स्थान मात्र है, फलभोग शेष होने पर वे फिर पृथ्वी पर ही जन्म ग्रहण करती हैं। (८/२५-२६)

६. उपनिषदों के अध्ययन के प्रसंग में मेरे मन में जो दो एक बातें आयी हैं, उनकी ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहले तो संसार में इनकी तरह अपूर्व काव्य और नहीं हैं। वेदों के संहिता भाग को पढ़ते समय उसमें भी जगह जगह अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्तों को पढ़ो। उसमें प्रलय के गम्भीर अन्धकार के वर्णन में है – तम आसीत् तमसा गूढमग्रे इत्यादि – 'जब अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था।' इसके पाठ ही से यह जान पड़ता है कि कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य इसमें भरा है। तुमने क्या इस ओर दृष्टि डाली है कि भारत के बाहर के देशों में तथा भारत में भी गम्भीर भावों के चित्र खींचने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं? भारत के बाहरी देशों में यह प्रयत्न सदा जड़ प्रकृति के अनन्त भावों के वर्णन में ही हुआ है – केवल अनन्त बहि:प्रकृति, अनन्त जड़, अनन्त देश का वर्णन हुआ है। जब भी मिल्टन या दाँते या किसी दूसरे प्राचीन अथवा आधुनिक यूरोपीय बड़े कवि ने अनन्त के चित्र खींचने की कोशिश की है, तभी उन्होंने कवित्व-पंखों के सहारे अपने बाहर दूर आकाश में विचरते हुए, बाह्य अनन्त प्रकृति का कुछ कुछ आभास देने की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। बाह्य प्रकृति का अनन्त विस्तार जिस प्रकार वेद संहिता में चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। (५/२२१-२२)

७. प्राचीन युनान अथवा आधुनिक यूरोप जीवन-समस्या का समाधान पाने के लिए तथा जगत्कारण सम्बन्धी पारमार्थिक तत्त्वों की खोज के लिए बाह्य प्रकृति के अन्वेषण में संलग्न हुए, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी किया, और पाश्चात्यों के समान वे भी असफल हुए। परन्तु पश्चिमी जातियों ने इस विषय में और कोई प्रयत्न नहीं किया, जहाँ वे थीं, वहीं पड़ी रहीं। बहिर्जगत् में जीवन और मृत्यु की महान् समस्याओं के समाधान में व्यर्थ प्रयास होने पर वे आगे नहीं बढ़ीं। हमारे पूर्वजों ने भी इसे असम्भव समझा था, परन्तु उन्होंने इस समाधान की प्राप्ति में इन्द्रियों की पूरी अक्षमता संसार के सामने निर्भय होकर घोषित की। उपनिषद से अच्छा उत्तर कहीं नहीं मिलेगा।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

'मन के साथ वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है।'

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मनः।

'वहाँ न आँखों की पहुँच है, न वाणी की।'

ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिन्होंने इन्द्रियों को इस महासमस्या के समाधान

के लिए सर्वथा अक्षम बताया है, किन्तु वे पूर्वज इतना ही कहकर रुक नहीं गये। बाह्य प्रकृति से लौटकर वे मनुष्य की अन्त:प्रकृति की ओर प्रवृत्त हुए। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वे स्वयं अपनी आत्मा के निकट गये, वे अन्तर्मुख हुए। वे समझ गये थे कि प्राणहीन जड़ से कभी सत्य की प्राप्ति न होगी। उन्होंने देखा कि बहि:प्रकृति से प्रश्न करने पर कोई उत्तर नहीं मिलता, न उससे कोई आशा की जा सकती है, अतएव बाहर सत्य की खोज की चेष्टा वृथा जानकर बहि:प्रकृति का त्याग करके वे उसी ज्योतिर्मय जीवात्मा की ओर मुड़े और वहाँ उन्हें उत्तर भी मिला। (५/२२२-२३)

८. समस्त उपनिषदों का केंद्रिय भाव साक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति ही है। (२/१७३)

९. तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुंचथ। – 'एकमात्र उसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो और दूसरे वृथा वाक्य छोड़ो।' उन्होंने आत्मा में ही सारी समस्याओं का समाधान पाया। वहीं उन्होंने विश्वेश्वर परमात्मा को जाना और जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध, उसके प्रति हमारा कर्तव्य और उसके आधार पर हमारा पारस्परिक सम्बन्ध – आदि ज्ञान प्राप्त किया। और इस आत्मतत्त्व के वर्णन के सदृश उदात्त संसार में और दूसरी कविता नहीं है। जड़ के वर्णन की भाषा में इस आत्मा को चित्रित करने की चेष्टा न रही, यहाँ तक कि आत्मा के वर्णन में उन्होंने गुणों का निर्देश करना बिल्कुल छोड़ दिया। तब अनन्त की धारणा के लिए इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं रही। बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य, अचेतन, मृत, जड़ स्वभाव, अवकाशरूपी अनन्त का वर्णन लुप्त हो गया। वरन् इसके स्थान पर आत्मतत्त्व का ऐसा वर्णन मिलता है, जो इतना सूक्ष्म है, जैसा कि इस कथन में निर्दिष्ट है :

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि:।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।।*

* मुंडकोपनिषद् ।।२।२।१७।।

संसार में और कौन सी कविता इसकी अपेक्षा अधिक उदात्त होगी? 'वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रतारकाओं का, यह बिजली उसे प्रकाशित नहीं कर सकती, तो मृत्युलोक की इस अग्नि की बात ही क्या? उसीके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।'

ऐसी कविता तुमको कहीं नहीं मिल सकती और कहीं न पाओगे। (५/२२३)

१०. अब हम उपनिषदों की शिक्षा की पर्यालोचना करेंगे। उनमें अनेक भावों के श्लोक हैं। कोई कोई सम्पूर्ण द्वैत भावात्मक हैं और अन्य अद्वैत भावात्मक हैं। किन्तु उनमें कई बातें हैं, जिन पर भारत के सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। पहले तो सभी सम्प्रदाय संसारवाद या पुनर्जन्मवाद स्वीकार करते हैं। दूसरे, सब सम्प्रदायों का मनोविज्ञान भी एक ही प्रकार का है: पहले यह स्थूल शरीर, इसके पीछे सूक्ष्म शरीर या मन है और इसके भी परे जीवात्मा है। पश्चिमी और भारतीय मनोविज्ञान में यह विशेष भेद है कि पश्चिमी मनोविज्ञान में मन और आत्मा में कोई अन्तर नहीं माना गया है, परन्तु हमारे यहाँ ऐसा नहीं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मन अथवा अन्त:करण मानो जीवात्मा के हाथों का यन्त्र-मात्र है। इसीकी सहायता से वह शरीर अथवा बाहरी संसार में काम करता है। इस विषय में सभी का मत एक है। और सभी सम्प्रदाय एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा अनादि और अनन्त है। जब तक उसे सम्पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती, तब तक उसे बार बार जन्म लेना होगा। इस विषय में सब सहमत हैं। एक और मुख्य विषय में सबकी एक राय है, और यही भारतीय और पश्चिमी चिन्तनप्रणाली में विशेष मौलिक तथा अत्यन्त जीवन्त एवं महत्त्वपूर्ण अन्तर है, यहाँवाले जीवात्मा में सब शक्तियों की अवस्थिति स्वीकार करते हैं। यहाँ शक्ति और प्रेरणा के बाह्य आवाहन के स्थान पर उनका आन्तरिक स्फुरण स्वीकार किया गया है। हमारे शास्त्रों के अनुसार सब शक्तियाँ, सब प्रकार की महत्ता और पवित्रता आत्मा में ही विद्यमान है। (५/२२५-२६)

११. अत: वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय

निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण की अनन्त कारा है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में ओतप्रोत वही एक विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।* (१/१२)

□□□

* भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।।

– कठोपनिषद् ।।२।३।३।।

२०

गीता

१. गीता तो छोटे के अन्दर महान् को देखने की शिक्षा देती है। धन्य है वह ग्रन्थ! ... (८/३५३)

२. गीता का केन्द्रिय भाव यह है : निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ। (३/२९)

३. यह वेदान्त दर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यस्वरूप है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्राम-स्थल, जहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दिया है और गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर जो मत उज्ज्वल रूप से प्रकाशित है, वह है तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसीके बीच अनन्त शान्तभाव। इसी तत्त्व को कर्म-रहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। (८/४)

४. हम दीपक के प्रकाश में गीता का पाठ कर रहे हैं, पर अनेक पतिंगे जलकर मरते जा रहे हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष रहता ही है। जो अपना क्षुद्र अहंभाव भूलकर कार्य करते हैं, उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे संसार की भलाई के लिए कर्म करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने से हमें परम आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है। (९/१९१)

५. सम्भव है, भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय पढ़कर तुम पाश्चात्य देशवालों में से बहुतों को आश्चर्य हुआ हो, क्योंकि वहाँ शत्रुओं के मित्र

एवं संबंधी होने के कारण अर्जुन के उनसे युद्ध करने से अस्वीकार करने तथा अप्रतिरोध को प्रेम का सर्वोच्च आदर्श मानने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ढोंगी तथा डरपोक कहा है। इस महान् सत्य को हम सबको अवगत कर लेना चाहिए कि सभी विषयों में दोनों चरम अवस्थाएँ एक सदृश होती हैं। चरम 'अस्ति' और चरम 'नास्ति', दोनों सदैव एक समान होते हैं।

अपने विपक्ष में शक्तिशाली सेना को खड़ी देखकर अर्जुन कायर हो गया; उसके 'प्रेम' ने उसे अपने देश तथा राजा के प्रति अपने कर्तव्य को विस्मृत करा दिया। इसीलिए तो भगवान् श्रीकृष्ण ने उससे कहा कि तू ढोंगी है, "एक ज्ञानी के सदृश तू बातें तो करता है, परन्तु तेरे कर्म कायरों जैसै हैं। इसलिए तू उठ, खड़ा हो और युद्ध कर।" (३/१३-१४)

६. भगवद्गीता में हम बार बार पढ़ते हैं कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म स्वभावत: ही शुभ-अशुभ से निर्मित होता है। हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते, जिससे कहीं कुछ शुभ न हो; और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है, जिससे कहीं न कहीं कुछ अशुभ न हो। प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुणदोष से मिश्रित रहता है। परन्तु फिर भी हमें सतत कर्म करते रहने का ही आदेश है। शुभ और अशुभ, दोनों के अपने अलग अलग परिणाम होंगे, वे भी कर्म की उत्पत्ति करेंगे। शुभ कर्मों का फल शुभ होगा और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। परन्तु शुभ और अशुभ, दोनों ही आत्मा के लिए बन्धनस्वरूप हैं। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हों, तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं पड़ सकता। (३/२९)

७. दुःख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बँधते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है: निरंतर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ; बन्धन में मत पड़ो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी क्यों न हो, तुम्हारा प्राण उसके लिए चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट क्यों न उठाना पड़े, फिर भी अपनी

इच्छानुसार उसके त्याग करने की अपनी शक्ति सँजोये रहो। (९/१७६-७७)

८. तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है – केवल उसका अधिकार है, जो कभी बदलता नहीं। वह कौन है? वह केवल ईश्वर ही है। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है – एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है जो कभी नहीं बदलता। उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनशील है। (७/१८६-८७)

९. गीता कर्मयोग की शिक्षा देती है। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के कर्मयोग में क्षुद्र अहंभाव की चेतना नहीं रह जाती। जब योगयुक्त होकर कार्य किया जाता है, तब मैं यह-वह कर रहा हूँ – यह ध्यान ही नहीं रहता। पाश्चात्यों की समझ में यह बात नहीं आती। वे कहते हैं कि यदि अहंभाव न रहे, यदि अहं का नाश हो जाय, तो फिर किसी मनुष्य के लिए कार्य कर सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? पर जो अपने को सम्पूर्णत: भूलकर एकाग्र चित्त से कार्य करता है, उसका कार्य निश्चय ही अप्रतिम रूप से अच्छा होता है, और इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति ने अपने जीवन में किया होगा।

गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिए। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किये हुए कर्म द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते हैं, वे अपने लिए कभी कुछ नहीं करते। (९/१९०-९१)

१०. गीता में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ, तो ये दो श्लोक हैं। कृष्ण के उपदेश के सारस्वरूप इन श्लोकों से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है :

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। १३।२७।।

और

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। १३।२८।।

– 'विनाश होनेवाले सब भूतों में जो लोग अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं, यथार्थ में उन्हीं का देखना सार्थक है; क्योंकि ईश्वर को सर्वत्र समान भाव से देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, इसलिए वे परमगति को प्राप्त होते हैं।' (५/८९-९०)

११. भगवद्गीता वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रमाणभूत ग्रन्थ है। (७/६९)

१२. गीता की मौलिकता किस बात में है, जिससे पूर्ववर्ती सभी शास्त्रों से वह विशिष्ट मानी जा सकती है? यद्यपि उसके प्रवर्तन के पूर्व योग, ज्ञान, भक्ति आदि सभी के दृढ़ अनुयायी थे, तथापि वे सब आपस में विवाद करते थे। अपने चुने हुए मार्गों की सर्वोत्कृष्टता का प्रत्येक दावा करता था। इन विभिन्न मार्गों में समन्वय स्थापित करने का किसीने कभी प्रयत्न नहीं किया। गीता के रचयिता ने ही सर्वप्रथम उनमें समन्वय का प्रयास किया। तत्कालीन प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायों के सर्वोत्तम तत्त्वों को उन्होंने लिया और गीता में सूत्रबद्ध कर दिया। (७/३१८)

१३. धर्म के विभिन्न मार्गों का समन्वय और निःस्पृह या निष्काम कर्म – ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। (७/३१८)

१४. यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है – क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप – तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का संदेश निहित है। (७/३२०)

१५. अनेक लोगों का यह मत है कि गीता महाभारत के समय नहीं लिखी गयी, वरन् बाद में उसमें जोड़ दी गयी है। यह बात ठीक नहीं है। गीता के जो विशिष्ट सिद्धान्त हैं, वे महाभारत के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं; और यदि गीता को बाद में जोड़ी हुई मानकर निकाल लिया जाय, तो महाभारत के प्रत्येक भाग में से वे अंश निकालने पड़ेंगे, जिनमें गीता के

सिद्धान्त पाये जाते हैं। (९/१८९)

१६. गीता में श्रीकृष्ण जो कह गये हैं, उसके समान महान् उपदेश जगत् में और कहीं नहीं है। जिन्होंने उस अद्भुत काव्य की रचना की थी, वे उन सब विरले महात्माओं में से एक थे, जिनके जीवन द्वारा समग्र जगत् में नव जीवन की एक लहर दौड़ जाती है। जिन्होंने गीता लिखी है, उनके सदृश आश्चर्यजनक मस्तिष्क मनुष्य जाति और कभी नहीं देख पायेगी। (७/३१)

१७. यह वेदों पर एक प्रकार का भाष्य है। वह हमें दिखाता है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए; अतः हमें उससे भागना नहीं चाहिए, अपितु उसको विवश करना चाहिए कि जो कुछ उसमें है, वह उसे हमें प्रदान करे। चूँकि गीता उच्चतर वस्तुओं के लिए इस संघर्ष का प्रतिरूप है, इसलिए उसके दृश्य को रणक्षेत्र के मध्य प्रस्तुत करना अतीव काव्यमय हो गया है। विरोधी सेनाओं में से एक के नेता अर्जुन के सारथी के वेष में कृष्ण उसे दुःखी न होने और मृत्यु से न डरने की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह वस्तुतः अमर है, और मनुष्य के प्रकृत स्वरूप में किसी भी विकारशील वस्तु का स्थान नहीं है। अध्याय के बाद अध्याय में कृष्ण दर्शन और धर्म की उच्च शिक्षा अर्जुन को देते हैं। यही शिक्षाएँ इस काव्य को इतना अद्भुत बनाती हैं, वस्तुतः समस्त वेदान्त दर्शन उसमें समाविष्ट है। (६/२५८)

□□□

२१

योग

१. प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः- प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं। (१/१७३)

२. समस्त मानव जाति का, समस्त धर्मों का चरम लक्ष्य एक ही है, और वह है भगवान् से पुनर्मिलन, अथवा दूसरे शब्दों में उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति, जो प्रत्येक मनुष्य का प्रकृत स्वभाव है। परन्तु यद्यपि लक्ष्य एक ही है, तो भी लोगों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न भिन्न हो सकते हैं।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों – इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। 'योग' शब्द संस्कृत के उसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिससे अंग्रेजी शब्द 'योक' (Yoke) – जिसका अर्थ है 'जोड़ना', अर्थात् अपने को उस परमात्मा से जोड़ना, जो कि हमारा प्रकृत स्वरूप है। इस प्रकार के योग अथवा मिलन के साधन कई हैं, पर उनमें मुख्य हैं कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग। (३/१६९)

३. जिस प्रकार हर एक विज्ञानशास्त्र के अपने अलग अलग तरीके होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म में भी है। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति

के तरीकों या साधनों को हम योग कहते हैं। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावों के अनुसार योग के भी विभिन्न प्रकार हैं। उनके निम्नलिखित चार विभाग हैं –

(१) कर्मयोग – इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

(२) भक्तियोग – इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम के द्वारा होती है।

(३) राजयोग – इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मन:संयम के द्वारा करता है।

(४) ज्ञानयोग – इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है।

ये सब एक ही केन्द्र – भगवान् – की ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। (३/१६९-७०)

४. हमारा प्रत्येक योग बिना किसी दूसरे योग की सहायता के भी मनुष्य को पूर्ण बना देने में समर्थ है, क्योंकि उन सबका लक्ष्य एक ही है। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग – सभी मोक्ष-लाभ के लिए सीधे और स्वतंत्र उपाय हो सकते हैं। (३/६७)

५. इसीको 'वैराग्य' कहते हैं, इसीको कर्मयोग की नींव – अनासक्ति – कहते हैं। मैंने तुम्हें बताया ही है की अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार की योग-साधना नहीं हो सकती। अनासक्ति ही समस्त योग-साधना की नींव है। हो सकता है कि जिस मनुष्य ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र पहनना छोड़ दिया है, अच्छा भोजन करना छोड़ दिया है और जो मरुस्थल में जाकर रहने लगा है, वह भी एक घोर विषयासक्त व्यक्ति हो। उसकी एकमात्र सम्पत्ति – उसका शरीर – ही उसका सर्वस्व हो जाय और वह उसीके सुख के लिए सतत प्रयत्न करे। (३/७४-७५)

६. वैराग्य अथवा त्याग ही इन समस्त विभिन्न योगों की धुरी है। कर्मी कर्मफल त्याग करता है। भक्त उन सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप

के लिए समस्त क्षुद्र प्रेमों का त्याग करता है; योगी जो कुछ अनुभव करता है, उसका परित्याग करता है; क्योंकि उसके दर्शन की शिक्षा यही है कि प्रकृति यद्यपि आत्मा की अभिज्ञता के लिए है, वह अन्त में उसे समझा देती हैं कि वह प्रकृति में अवस्थित नहीं है, किन्तु प्रकृति से नित्य पृथक् है। ज्ञानी सब कुछ त्याग करता है, क्योंकि उसके दर्शन शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान किसी काल में भी प्रकृति का अस्तित्व नहीं है। (६/२९०)

७. हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। बहिर्विज्ञान में बाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य – बाह्य और अन्तर दोनों जगत् के सत्य – करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं। (१०/३८३)

८. योगी दावा करते हैं कि मनुष्य-देह में जितनी शक्तियाँ हैं, उनमें ओज सबसे उत्कृष्ट कोटि की शक्ति है। यह ओज मस्तिष्क में संचित रहता है। जिसके मस्तक में ओज जितने अधिक परिमाण में रहता है, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान और आध्यात्मिक बल से बली होता है। एक व्यक्ति बड़ी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, परन्तु लोग आकृष्ट नहीं होते। और दूसरा व्यक्ति न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न सुन्दर ढंग से भाव व्यक्त कर सकता है, परन्तु फिर भी लोग उसकी बात से मुग्ध हो जाते हैं। वह जो कुछ कार्य करता है, उसी में महाशक्ति का विकास देखा जाता है। ऐसी है ओज की शक्ति! (१/८१)

९. शरीर में जितनी शक्तियाँ क्रियाशील हैं, उनका उच्चतम विकास यह ओज है। यह हमें सदा याद रखना चाहिए कि सवाल केवल रूपान्तरण का है – एक ही शक्ति दूसरी शक्ति में परिणत हो जाती है। बाहरी संसार

में जो शक्ति विद्युत् अथवा चुम्बकीय शक्ति के रूप में प्रकाशित हो रही है, वही क्रमश: आभ्यन्तरिक शक्ति में परिणत हो जायगी। आज जो शक्तियाँ पेशियों में कार्य कर रही हैं, वे ही कल ओज के रूप में परिणत हो जायँगी। योगी कहते हैं कि मनुष्य में जो शक्ति काम-क्रिया, काम-चिन्तन आदि रूपों में प्रकाशित हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओज में परिणत हो जाती है। और हमारे शरीर का सबसे नीचेवाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। वे सारी काम-शक्ति को ओज में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। कामजयी स्त्री-पुरुष ही इस ओज को मस्तिष्क में संचित कर सकते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य ही सदैव सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि अगर वह कामुक हो, तो उसका सारा धर्मभाव चला जाता है, चरित्र-बल और मानसिक तेज नष्ट हो जाता है। इसी कारण, देखोगे, संसार में जिन जिन सम्प्रदायों में बड़े बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी संन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। इस ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से – तन-मन-वचन से – पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना राजयोग की साधना बड़े खतरे की है; क्योंकि उससे अन्त में मस्तिष्क का विषम विकार पैदा हो सकता है। (१/८१-८२)

१०. मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना – यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगानुयुग प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जैसे एक काठ का टुकड़ा केवल खिलौना बन समुद्र की लहरों द्वारा इधर-उधर फेंका जाता रहता है, उसी प्रकार हमें भी प्रकृति के जड़-नियमों के हाथों खिलौना बनने की आवश्यकता नहीं है। यह विज्ञान चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, कार्य को अपने ही हाथ में लो, प्रकृति के भरोसे मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है। (४/१७६)

११. इन सारी योग-प्रणालियों में जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, सब छोड़ देना पड़ेगा। जिससे बल मिलता है, उसीका अनुसरण करना चाहिए।

अन्यान्य विषयों में जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है – जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है। रहस्य-स्पृहा मानव-मस्तिष्क को दुर्बल कर देती है। इसके कारण ही आज योगशास्त्र नष्ट सा हो गया है। (१/४४)

१२. वही योगी है, जो अपने को संपूर्ण विश्व में, और संपूर्ण विश्व को अपने में देखता है। (२/२५४)

१३. यह बच्चों का खिलवाड़ नहीं और न कोई सनक है कि उसमें पड़कर एक दिन अभ्यास किया जाय और दूसरे दिन त्याग दिया जाय। यह जीवन भर का काम है और लक्ष्य की सिद्धि में जो भी मूल्य चुकाना पड़े, वह सर्वथा उचित है, और वह लक्ष्य ईश्वर से अपने पूर्ण एकत्व के बोध जैसा महान् है। (४/९६)

□□□

२२

वेदान्त तत्वज्ञान और अभ्यास

१. जड़वादी कहता है कि मुक्ति की वाणी एक भ्रम है। विज्ञानवादी कहता है कि बन्धन का अस्तित्व बतलानेवाली वाणी भ्रम है। वेदान्ती कहता है, तुम एक ही साथ मुक्त और बद्ध दोनों हो; पार्थिव स्तर पर तुम कभी भी मुक्त नहीं हो, किन्तु पारमार्थिक या आध्यात्मिक स्तर पर तुम नित्य मुक्त हो। (७/४२)

२. वेदान्त दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। यह दर्शन उस विशाल पुरातन आर्यसाहित्य से उद्‌गत हुआ है, जिसे वेदों के नाम से पुकारते हैं। यह वेदान्त दर्शन मानो शताब्दियों तक संग्रहीत और चयन किये गये उस विशाल साहित्य के अन्तर्गत सभी विचारधाराओं, अनुभवों तथा विवेचनों का सर्वोत्तम पुष्प है। इस वेदान्त दर्शन की कतिपय विशेषताएँ हैं। प्रथमतः, यह पूर्णरूपेण अवैयक्तिक है। इसकी उत्पत्ति किसी व्यक्तिविशेष या धर्मगुरु से नहीं हुई। एक व्यक्तिविशेष को केन्द्र में रखकर वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं करता। परन्तु जो दर्शन किसी व्यक्तिविशेष को केन्द्रित करके प्रतिपादित हुए हैं, उनके विरुद्ध भी इसको कुछ कहना नहीं। (९/११७)

३. भारत में सम्प्रति जितने दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, वे सभी वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। वेदान्त की कई प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं और मेरे विचार से वे सभी प्रगतिशील रही हैं। प्रारम्भ में व्याख्याएँ द्वैतवादी हुईं, अन्त में अद्वैतवादी। (९/६३)

४. वेदान्त और आधुनिक विज्ञान दोनों ही जगत् की कारणस्वरूप

एक ऐसी वस्तु का निर्देश करते हैं, जिससे अन्य किसीकी सहायता के बिना जगत् का प्रकाश होता है। समस्त कारण स्वयं उसीमें हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी से घट का निर्माण करता है; यहाँ कुम्हार होता है निमित्त-कारण, मिट्टी होती है समवायी उपादान-कारण और कुम्हार का चक्र होता है असमवायी उपादान-कारण। किन्तु आत्मा ही ये तीनों कारण है। आत्मा कारण भी है और अभिव्यक्ति या कार्य भी है। वेदान्ती कहते हैं, यह जगत् सत्य नहीं है, यह तो आपातप्रतीयमान सत्ता मात्र है। प्रकृति आदि कुछ भी नहीं है, अविद्यारूपी आवरण में से एकमात्र ब्रह्म ही प्रकाशित है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ईश्वर ही प्रकृति या जगत प्रपंच हुआ है; अद्वैतवादि स्वीकार करते हैं, ईश्वर इस जगत्प्रपंच के रूप में प्रतीयमान होता है अवश्य, किन्तु वह यह जगत् नहीं है। (७/६१)

५. वेदान्त दर्शन एक सिद्धान्त – जो विश्व के सभी धर्मों में पाया जाता है – प्रतिपादित करता है और यह दावा करता है कि मनुष्य (वस्तुत:) दिव्य है तथा जो कुछ भी हम लोग अपने चारों ओर देखते हैं, वह उसी दिव्यता के बोध से उद्भूत हुआ है। हर एक वस्तु जो सुन्दर, बलयुक्त तथा कल्याणकारी है और मानव प्रकृति में जो कुछ भी शक्तिशाली है, वह सब उसी दिव्यता से उद्भूत है। यह दिव्यता यद्यपि बहुतों में अव्यक्त रहती है, मूलत: मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं है, सभी समानरूपेण दिव्य हैं। यह ऐसा ही है, जैसे पीछे एक अनन्त समुद्र है और उस अनन्त समुद्र में हम और तुम लोग इतनी सारी लहरें हैं और हममें से हर एक उस अनन्त को बाहर व्यक्त करने के निमित्त प्रयत्नशील है। (९/११८)

६. वेदान्त का एक दूसरा विशिष्ट सिद्धान्त यह है कि हम लोगों को धार्मिक विचारों की अनंत विविधता को स्वीकार करना चाहिए और हर एक को एक ही विचारधारा के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि लक्ष्य तो एक ही है। जैसा कि एक वेदान्ती अपनी काव्यमयी भाषा में कहता है – जिस प्रकार बहुत सी नदियाँ, जिनका उद्गम विभिन्न पर्वतों से होता है, टेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में समुद्र ही में गिरती हैं,

उसी प्रकार ये सभी विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म, जो विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से प्रकट होते हैं, सीधे या टेढ़े मार्गों से चलते हुए भी अन्तत: तुम्हींको प्राप्त होते हैं।' (९/११९-२०)

७. वेदान्त यह नहीं कहता कि संसार केवल दु:खमय है। ऐसा कहना ही भूल है। और जगत् सुख से परिपूर्ण है, यह कहना भी ठीक नहीं है। बालकों को यह शिक्षा देना भूल है कि यह जगत् केवल मधुमय है – यहाँ केवल सुख है, केवल फूल हैं, केवल सौन्दर्य है। हम सारे जीवन इन्हींका स्वप्न देखते रहते हैं। फिर, किसी व्यक्ति ने दूसरे की अपेक्षा अधिक दु:ख भोगा है, इसीलिए सबका सब दु:खमय है, यह कहना भी भूल है। संसार बस इस द्वैतभावपूर्ण अच्छे-बुरे का खेल है। वेदान्त इसके साथ ही कहता है, "यह न सोचो कि अच्छा और बुरा दो सम्पूर्ण पृथक् वस्तुएँ हैं। वास्तव में वे एक ही वस्तु हैं। वह एक वस्तु ही भिन्न भिन्न रूप से, भिन्न भिन्न आकार में आविर्भूत हो एक ही व्यक्ति के मन में भिन्न भिन्न भाव उत्पन्न कर रही है।" (२/१३७)

८. वेदान्त दर्शन परम निराशावाद को लेकर प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम ऐंद्रिक आशावाद को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित सच्चे आशावाद को स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रियों से परे है, और प्रत्येक व्यक्ति में वह विद्यमान है। संसार में हम जो तथाकथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश की ओर ले जाता है। (९/७२)

९. वेदान्त का उद्देश्य ही इन सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना है, उनका जो रूप आपातत: प्रतीत होता है, वह न देखकर उनको उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है। (८/२२)

१०. वेदान्त कहता है कि तुम पवित्र और पूर्ण हो। एक अवस्था ऐसी भी है, जो कि पाप और पुण्य से परे है, और वही तुम्हारा प्रकृत स्वरूप है। वह अवस्था पुण्य से भी ऊँची है। पुण्य में भी भेद-ज्ञान है,

किन्तु पाप से कम।

हमारे यहाँ पाप विषयक कोई सिद्धान्त नहीं। हम तो उसे अज्ञान कहते हैं। (९/७१-७२)

११. वेदान्त मानता है कि धर्म तो वर्तमान में ही अनुभूत होनेवाला विषय है, क्योंकि उसके अनुसार यह जन्म और वह जन्म, जन्म और मरण, इहलोक और परलोक, ये सारी बातें अन्धविश्वास तथा पूर्व धारणाओं पर आधारित हैं। काल के प्रवाह में कभी विराम नहीं होता, हाँ, अपनी धारणाओं से हम भले ही उसमें विराम मान लें। चाहे दस बजा हो या बारह, काल में कोई अन्तर तो नहीं पड़ता! हाँ, प्रकृति में कुछ परिवर्तन भले ही दीख पड़ते हैं। समय का प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप से सतत जारी रहता है। तब फिर इस जन्म और उस जन्म का क्या अभिप्राय है? यह तो केवल समय का प्रश्न है और जो काम पिछले समय में न किया जा सका हो, उसे गति को तीव्रतर करके अब पूरा किया जा सकता है। इस तरह वेदान्त का कहना है कि धर्म की अनुभूति तो यहीं हो सकती है। और तुम्हारे धार्मिक होने का अर्थ है कि तुम किसी धर्म की शरण में गए बिना ही आरम्भ करो और अपनी साधना से ही धर्म की अनुभूति करो। जब तुम ऐसा कर सकोगे, तभी तुम्हारा कोई धर्म होगा। उसके पहले तुम नास्तिक ही नहीं – बल्कि उससे भी बुरे हो – क्योंकि जो नास्तिक है, वह कम से कम सच्चा तो है, वह कहता है, "मुझे इन सारी चीजों का कोई ज्ञान नहीं", जब कि दूसरे लोग ज्ञान न रखते हुए भी संसार भर में ढिंढोरा पीटते चलते हैं, "हम बड़े धार्मिक हैं।" (२/२४६)

१२. युरोप में भी आजकल भौतिकवाद की पताका फहरा रही है। इन संदेहवादियों के उद्धार के लिए भले ही तुम प्रार्थना करो, पर वे विश्वास नहीं करने के; वे चाहते हैं बुद्धि। यूरोप का उद्धार एक बुद्धिपरक धर्म पर निर्भर है; और द्वयतारहित, एकत्वप्रधान, निर्गुण ईश्वर प्रतिपादित करनेवाला यह अद्वैतवाद ही, एक ऐसा धर्म है, जो किसी बौद्धिक जाति को सन्तुष्ट कर सकता है। जब कभी धर्म लुप्त होने लगता है और अधर्म का अभ्युत्थान

होता है, तभी इसका आविर्भाव होता है। इसीलिए यूरोप और अमेरिका में प्रवेश प्राप्त कर यह दृढ़मूल होता जा रहा है। (२/९४)

१३. मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि अद्वैतवाद ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के साथ भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में केवल मेल ही नहीं खाता, वरन् उनसे भी आगे जाता है, और इसी कारण वह आधुनिक वैज्ञानिकों को इतना भाता है। वे देखते हैं कि प्राचीन द्वैतवादी धर्म उनके लिए पर्याप्त नहीं हैं, उनसे उनकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। (२/९२-९३)

१४. अद्वैतवाद की एक और विशेषता यह है कि अद्वैत सिद्धान्त अपने आरम्भ काल से ही अविध्वंसात्मक रहा है। यह प्रचार करने के साहस का गौरव उसे प्राप्त है :

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।

– 'ज्ञानियों को चाहिए कि वे अज्ञानी, कर्म में आसक्त व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें; विद्वान् व्यक्ति को स्वयं युक्त रहकर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त करना चाहिए।'* अद्वैतवाद यही कहता है – किसीकी मति को विचलित मत करो, किन्तु सभी को उच्च से उच्चतर मार्ग पर जाने में सहायता दो। (२/९५-९६)

१५. संसार के सभी द्वैतवादी स्वभावतः एक ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं; जो एक उच्च शक्तिसम्पन्न मनुष्य मात्र है, और एक लौकिक शासक की भाँति कुछ से प्रसन्न तथा कुछ से अप्रसन्न होता है। वह बिना किसी कारण ही किसी जाति या राष्ट्र से प्रसन्न है और उन पर वरदानों की वृष्टि करता रहता है। अतः द्वैतवादी के लिए यह मानना स्वाभाविक हो जाता है कि ईश्वर के कुछ विशेष कृपापात्र होते हैं; और वह उनमें से एक होने की आशा करता है। तुम देखोगे कि सभी धर्मों में यह विचार पाया जाता

* श्रीमद्भगवद्गीता ३/२६

है, 'हमीं ईश्वर के प्रिय पात्र हैं, हमारी ही तरह विश्वास करने से हमारा ईश्वर तुम पर कृपा करेगा।' और कितने ही द्वैतवादी तो ऐसे हैं, जिनका मत और भी भयानक है। वे कहते हैं, "ईश्वर पूर्व विधान के अनुसार जिनके प्रति दयालु है, केवल उन्हींका उद्धार होगा, और शेष सब सिर पटककर भी मर जायँ, तो भी वह इस अन्तरंग दल में प्रवेश नहीं पा सकता है।" तुम मुझे एक भी ऐसा द्वैतवादात्मक धर्म बता दो, जिसके भीतर यह संकीर्णता न हो। यही कारण है कि ये सब धर्म सदैव परस्पर युद्ध करते रहेंगे, और वे करते भी यही रहे हैं। (२/९६-९७)

१६. यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानवात्मा के अमरत्व सम्बन्धी दूसरे सिद्धान्त के साथ ही साथ चलता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जिसका किसी एक बिन्दु पर अन्त तो होता हो, पर वह अनादि हो और न कोई ऐसी ही वस्तु है, जिसका किसी एक बिन्दु पर प्रारम्भ हो, पर उसका अन्त न हो। हम इस विकट असम्भाव्यता में कदापि विश्वास नहीं कर सकते कि 'मानवात्मा' का कोई आदि है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की स्वतंत्रता को प्रतिपादित करता है। (२/२२९)

१७. जो शून्य से आया है, वह अवश्य शून्य में ही मिल जायगा। हममें से कोई भी शून्य से नहीं आया, इसलिए हम शून्य में नहीं मिट जायँगे। हम अनन्त काल से विद्यमान हैं और रहेंगे, और विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो हम लोगों का अस्तित्व मिटा सके। इस पुनर्जन्मवाद से हमें किसी तरह डरना नहीं चाहिए, क्योंकि वही तो मानव की नैतिक उन्नति का प्रधान सहायक है। चिन्तनशील व्यक्तियों का यही न्यायसंगत सिद्धान्त है। यदि भविष्य में चिरकाल के लिए तुम्हारा अस्तित्व रहना सम्भव हो, तो यह भी सच है कि अनादि काल से तुम्हारा अस्तित्व था; इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। (२/११३)

१८. आत्मा न कभी आती है, न जाती है; यह न तो कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है। प्रकृति ही आत्मा के सम्मुख गतिशील है और इस गति की छाया आत्मा पर पड़ती रहती है। भ्रमवश आत्मा सोचती है कि प्रकृति नहीं, बल्कि वही गतिशील है। जब तक आत्मा ऐसा सोचती रहती है, तब तक वह बन्धन में रहती है; किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि वह सर्वव्यापक है, तो वह मुक्ति का अनुभव करती है। जब तक आत्मा बन्धन में रहती है तब तक उसे जीव कहते हैं। इस तरह तुमने देखा कि समझने की सुविधा के लिए ही हम ऐसा कहते हैं कि आत्मा आती है और जाती है, ठीक वैसे ही, जैसे खगोलशास्त्र में सुविधा के लिए यह कल्पना करने के लिए कहा जाता है कि सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है, यद्यपि वस्तुत: बात वैसी नहीं है। तो जीव, अर्थात् आत्मा, ऊँचे या नीचे स्तर पर आता-जाता रहता है। यही सुप्रसिद्ध पुनर्जन्मवाद का नियम है; सृष्टि इसी नियम से बद्ध है। (२/२१९)

१९. ज्ञानयोगी के जीवन का उद्देश्य यही जीवन्मुक्त होना है। वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत् में अनासक्त होकर वास कर सकते हैं। वे जल के पद्म-पत्र के समान रहते हैं – जैसे जल में रहने पर भी जल उसे कदापि भिगो नहीं सकता, उसी प्रकार वे जगत् में निर्लिप्त भाव से रहते हैं। वे मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ हैं, केवल इतना ही क्यों, सकल प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि उन्होंने उस पूर्ण पुरुष के सहित अभेद भाव उपलब्ध किया है; उन्होंने उपलब्धि की है कि वे भगवान् के सहित अभिन्न हैं। (८/७१)

२०. जिन लोगों ने आत्मा को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उनके लिए अतीत जीवन के शुभ संस्कार, शुभ-वेग ही बच रहता है। शरीर में वास करते हुए भी और अनवरत कर्म करते हुए भी वे केवल सत्कर्म ही करते हैं; उनके मुख से सब के प्रति केवल आशीर्वाद ही निकलता है, उनके हाथ केवल सत्कार्य ही करते हैं, उनका मन केवल सच्चिन्तन ही कर सकता है, उनकी उपस्थिति ही, चाहे वे कहीं भी रहे सर्वत्र मानव जाति के लिए महान् आशीर्वाद होती है। (२/३८)

२१. कुछ लोग हैं, जो अद्वैतवाद को समझते तो हैं नहीं, पर उसके उपदेशों को उपहास का विषय बनाते हैं। वे कहते हैं, "शुद्ध और अशुद्ध

क्या है? पुण्य और पाप में अन्तर क्या है? यह सब मानवीय अन्धविश्वास है;'' और वे अपने कार्यों में कोई नैतिक प्रतिबन्ध नहीं रखते। यह तो पूर्ण शठता है और ऐसी बातों का उपदेश दिये जाने से बड़ी से बड़ी हानि हो सकती है।

यह शरीर पुण्य और पाप – हानिरहित पुण्य एवं हानिप्रद पापरूप दो प्रकार के कार्यों से बना है। एक काँटा मेरे शरीर में चुभा है, और मैं उसे निकालने के लिए दूसरा काँटा उठाता हूँ और तब दोनों को फेंक देता हूँ। पूर्णता चाहनेवाला व्यक्ति, पुण्य का काँटा लेता है और उससे पाप का काँटा निकालता है। फिर भी वह पूर्ण व्यक्ति जीवित रहता है और केवल पुण्य रह जाने से जो क्रिया का वेग उसमें रहता है, वह निश्चय ही पुण्य का होता है। जीवन्मुक्त में किंचित् पुण्य रह जाता है और वह जीवित रहता है, पर जो कुछ वह करता है, अवश्य ही पुण्य होता है। (१/२९४)

२२. अतएव यदि मैं तुम्हें यह उपदेश दूँ कि तुम्हारी प्रकृति असत् है, और यह कहूँ कि तुमने कुछ भूलें की हैं, इसलिए अब तुम अपना जीवन केवल पश्चात्ताप करने तथा रोने-धोने में ही बिताओ, तो इससे तुम्हारा कुछ भी उपकार न होगा, वरन् उससे और भी दुर्बल हो जाओगे। ऐसा करना तुम्हें सत्पथ के बजाय असत्पथ दिखाना होगा। यदि हज़ारों साल इस कमरे में अँधेरा रहे और तुम कमरे में आकर 'हाय! बड़ा अँधेरा है! बड़ा अँधेरा है!' कह कहकर रोते रहो, तो क्या अँधेरा चला जायगा? कभी नहीं। एक दियासलाई जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा। अतएव जीवन भर 'मैंने बहुत दोष किये हैं, मैंने बहुत अन्याय किया है', यह सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा? हममें बहुत से दोष हैं, यह किसीको बतलाना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षण में सब अशुभ चला जायगा। अपने प्रकृतस्वरूप को पहचानो, प्रकृत 'मैं' को – उसी ज्योतिर्मय उज्ज्वल, नित्यशुद्ध 'मैं' को, प्रकाशित करो – प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जायँ कि अति जघन्य पुरुष को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर वे दृष्टिपात न करें, बल्कि

उसके हृदय में रहनेवाले भगवान् को देख सकें। और उसकी निन्दा न कर, यह कह सकें, 'हे स्वप्रकाशक, ज्योतिर्मय, उठो! हे सदाशुद्धस्वरूप उठो! हे अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान, उठो! आत्मस्वरूप प्रकाशित करो। तुम जिन क्षुद्र भावों में आबद्ध पड़े हो, वे तुम्हें सोहते नहीं।' अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना का उपदेश देता है। निजस्वरूप स्मरण, सदा उसी अन्तःस्थ ईश्वर का स्मरण, उसीको सदा अनन्त, सर्वशक्तिमान, सदाशिव, निष्काम कहकर उसका स्मरण – यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र 'मैं' उसमें नहीं रहता, क्षुद्र बन्धन उसे नहीं बाँध सकते। और वह अकाम है, इसीलिए अभय और ओजस्वरूप है, क्योंकि कामना तथा स्वार्थ से ही भय की उत्पत्ति होती है। जिसे अपने लिए कोई कामना नहीं, वह किससे डरेगा? कौन सी वस्तु उसे डरा सकती है? क्या उसे मृत्यु डरा सकती है? अशुभ, विपत्ति डरा सकती है? कभी नहीं। अतएव यदि हम अद्वैतवादी हैं, तो हमें यह मानना होगा कि हमारा 'मैं-पन' इसी क्षण से मृत है। फिर मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, अमुक अमुक हूँ, यह सब भाव नहीं रह जाता, ये अंधविश्वास मात्र थे, और शेष रहता है वही नित्य शुद्ध, नित्य ओजस्वरूप, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञस्वरूप, और तब हमारा सारा भय चला जाता है। कौन इस सर्वव्यापी 'मैं' का अनिष्ट कर सकता है? इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण दुर्बलता चली जाती है। तब दूसरों में भी उसी शक्ति को उद्दीप्त करना हमारा एकमात्र कार्य हो जाता है। हम देखते हैं, वे भी यही आत्मास्वरूप हैं, किन्तु वे यह जानते नहीं। अतएव हमें उन्हें सिखाना होगा – उनके इस अनन्तस्वरूप के प्रकाशनार्थ हमें उनकी सहायता करनी पड़ेगी। मैं देखता हूँ कि जगत् में इसीके प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता है। ये सब मत अत्यन्त पुराने हैं, बहुतेरे पर्वतों से भी पुराने। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। कोई भी जाति, कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सम्पत्ति कहने का दावा नहीं कर सकता। सत्य ही सब आत्माओं का यथार्थस्वरूप है। किसी भी व्यक्तिविशेष का उस पर विशेष अधिकार नहीं है। किन्तु हमें उसे व्यावहारिक और सरल बनाना होगा, (क्योंकि उच्चतम सत्य अत्यन्त सहज और सरल

होते हैं) जिससे वह समाज के हर रंध्र में व्याप्त हो जाय, उच्चतम मस्तिष्क से लेकर अत्यन्त साधारण मन द्वारा भी समझा जा सके, तथा आबाल-वृद्ध-वनिता सभी उसे जान सकें। ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमांसाएँ, ये सब मतवाद और क्रिया-काण्ड – इन सबने किसी समय भले ही उपकार किया हो, किन्तु आओ, हम सब आज से – इसी क्षण से धर्म को सहज बनाने की चेष्टा करें और उस सत्ययुग के पुनरागमन में सहायता करें, जब प्रत्येक व्यक्ति उपासक होगा और उसका अन्तःस्थ सत्य ही उसकी उपासना का विषय होगा। (८/६२-६३)

२३. वेदान्त यह कहता है कि ऐसा नहीं कि यह केवल वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में उपलब्ध हो सकता हो, वरन् हम यह देख ही चुके हैं कि पहले जिन लोगों ने इस सत्यसमूह का आविष्कार किया था, वे वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में नहीं रहते थे, साथ ही वे सामान्य मनुष्य भी नहीं थे, वरन् वे लोग ऐसे थे (हम लोगों के इस विश्वास के विशेष कारण है), जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन बिताते थे, जिन्हें सैन्य-संचालन करना पड़ता था, जिन्हें सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का हानि-लाभ देखना होता था। इसके अतिरिक्त उस समय राजागण ही सर्वेसर्वा थे – आजकल जैसे कठपुतली नहीं। फिर भी वे लोग इन सब तत्त्वों का चिन्तन करने तथा उनको जीवन में परिणत करने और मानव जाति को शिक्षा देने का समय निकाल लेते थे। अतएव उनकी अपेक्षा हम लोगों को इन सब तत्त्वों का अनुभव होना तो और भी सहज है, क्योंकि हमारा जीवन उनकी तुलना में अवकाश का जीवन है। हम अपेक्षाकृत सारे समय खाली ही रहते हैं, हमारे पास करने को बहुत कम रहता है, अतः हमारे लिए उस सत्य का साक्षात्कार न कर सकना बड़ी लज्जाजनक बात है। पुरातन सर्वेसर्वा सम्राटों की आवश्यकताओं की तुलना में हमारी आवश्यकताएँ तो कुछ भी नहीं है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अवस्थित विराट सेना के परिचालक अर्जुन की जितनी आवश्यकता थी, हमारी आवश्यकता उसकी तुलना में नगण्य है, तब भी उस युद्ध-कोलाहल के बीच में भी, वे उच्चतम दर्शन को सुनने और उसे कार्यान्वित करने

का समय पा सके – इसलिए अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन आराममय जीवन में हमें उतना कर सकना चाहिए। हम लोग यदि ठीक प्रकार से समय बितायें, तो हम देखेंगे कि हम जितना सोचते और समझते हैं उसकी अपेक्षा हमारे पास कहीं अधिक समय है। हम लोगों को जितना अवकाश है, उसमें यदि हम सचमुच चाहें, तो एक नहीं पचास आदर्शों का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु आदर्श को हमें कभी नीचा नहीं करना चाहिए। हमारे जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति की आशंका है ऐसे व्यक्तियो से जो हमारे व्यर्थ अभावों और वासनाओं के लिए अनेक प्रकार के वृथा कारण दिखाते हैं और हम लोग भी यही सोचते हैं कि हम लोगों का इससे बड़ा और कोई आदर्श नहीं हो सकता, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदान्त इस प्रकार की शिक्षा कभी नहीं देता। प्रत्यक्ष जीवन को आदर्श के साथ समन्वित करना पड़ेगा – वर्तमान जीवन को अनन्त जीवन के साथ एकरूप करना होगा। (८/७)

२४. हम जिवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नहीं देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पड़ता है, उसके बाद उसीमें और उसके माध्यम से कुर्सी को देखना पड़ता है। वह दिन-रात जगत् में रहकर प्रतिक्षण 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहा है। जिस क्षण तुम बोलते हो 'मैं हूँ', उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो। तुम ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने जाओगे, यदि तुम उसे अपने हृदय में, हर प्राणी में नहीं देख पाते? त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।। –'तुम स्त्री, तुम पुरुष, तुम कुमार, तुम कुमारी हो, तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी के सहारे चल रहे हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुए हो। तुम्हीं यह सब हो।' कितना अद्भुत 'जीवित ईश्वर' है – संसार में वह ही एक मात्र सत्य है। यह धारणा अनेक लोगों को उस परंपरीण ईश्वर से घोर विरोधात्मक लगती है, जो किसी विशेष स्थान में किसी पर्दे के पीछे छिपा बैठा है, और जिसे कोई कभी नहीं देख सकता। पुरोहित लोग

हमें केवल यही आश्वासन देते हैं कि यदि हम लोग उनका अनुसरण करें, उनकी भर्त्सना सुनते रहें, और उनके द्वारा निर्दिष्ट लीक पर चलते रहें, तो मरते समय वे हमें एक मुक्तिपत्र देंगे और तब हम ईश्वर-दर्शन कर सकेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा स्वर्गवाद इस अनर्गल पुरोहित-प्रपंच के विविध रूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

निर्गुणवाद निस्सन्देह अनेक चीजें नष्ट कर डालता है; वह पुरोहितों, धर्मसंघों और मन्दिरों के हाथ से सारा व्यवसाय छीन लेता है। भारत में इस समय दुर्भिक्ष है, किन्तु वहाँ ऐसे बहुत से मन्दिर हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक राजा को भी खरीद लेने योग्य बहुमूल्य रत्नों की राशि सुरक्षित है। यदि पुरोहित लोग इस निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा दें, तो उनका व्यवसाय छिन जायगा। किन्तु हमें उसकी शिक्षा नि:स्वार्थ भाव से, बिना पुरोहित-प्रपंच के देनी होगी। तुम भी ईश्वर, मैं भी वही – तब कौन किसकी आज्ञा पालन करे? कौन किसकी उपासना करे? तुम्हीं ईश्वर के सर्व श्रेष्ठ मन्दिर हो; मैं किसी मन्दिर, किसी प्रतिमा या किसी बाइबिल की उपासना न कर तुम्हारी ही उपासना करूँगा। लोग इतना परस्पर विरोधी विचार क्यों करते हैं? लोग कहते हैं; हम ठेठ प्रत्यक्षवादी हैं; ठीक बात है, किन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो। मुसलमान कहते हैं, अल्लाह के सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है; किन्तु वेदान्त कहता है, ऐसा कुछ है ही नहीं जो ईश्वर न हो। (८/२८-२९)

२५. वेदान्त सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक ईश्वर का निरूपण करता है। इस राष्ट्र से तो राजराजेश्वर की विदाई हो चुकी है। लेकिन वेदान्त से तो स्वर्ग का साम्राज्य सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही लुप्त हो गया था।

वेदान्त केवल अध्यात्म का ही विषय है।

ईश्वर आत्मा है और आत्मा एवं सत्य के द्वारा ही उसकी उपासना होनी चाहिए। (९/८०-८१)

२६. ये वे बातें हैं, जो वेदान्त से अपेक्षित नहीं हैं। कोई धर्मग्रंथ नहीं। शेष मनुष्य जाति से पृथक् कोई मनुष्य नहीं, 'तुम कीट मात्र और हम जगदीश्वर' ऐसा कुछ नहीं। यदि तुम जगदीश्वर प्रभु हो तो मैं भी जगदीश्वर प्रभु हूँ। अत: वेदान्त पाप नहीं मानता। भूलें जरूर हैं, लेकिन पाप नहीं। कालान्तर में सभी ठीक होनेवाला है। कोई शैतान नहीं – ऐसी कोई बकवास नहीं। वेदान्त के अनुसार जिस क्षण तुम अपने को या इतर जन को पापी समझते हो, वही पाप है। इसीसे अन्य सब भूलों का या उनका जिन्हें बहुधा पाप की संज्ञा दी जाती है, सूत्रपात होता है। हमारे जीवन में अनेक भूलें हुई हैं। फिर भी आगे हम बढ़ते ही रहे हैं। हमसे भूलें हुईं, इसमें हमारा गौरव है! बीते जीवन का सिंहावलोकन करो। यदि तुम्हारी आज की हालत अच्छी है, तो उसका श्रेय सफलताओं के साथ साथ पिछली भूलों को भी मिलना चाहिए। सफलता भी गौरवशालिनी! विफलता भी गौरवशालिनी!

वेदान्त पाप और पापी की स्थापना नहीं करता। वह (ईश्वर) एक ऐसी सत्ता है, जिससे हम कदापि आतंकित नहीं होंगे; क्योंकि वह हमारी अपनी आत्मा है। उसमें भीति जगानेवाले ईश्वर का आतंक नहीं। केवल एक ही सत्ता है, जिससे हमें डर नहीं है, वह ईश्वर है। तो क्या ईश्वर से डरनेवाला प्राणी ही यथार्थ में सबसे बड़ा अंधविश्वासी नहीं है? निज छाया से कोई भयभीत भले ही हो उठे, किन्तु वह भी निज से संत्रस्त नहीं है। ईश्वर मानव की ही आत्मा है। वही एक ऐसी सत्ता है, जिससे तुम कदापि भयभीत नहीं हो सकते। ईश्वर का भय व्यक्ति के अन्तराल में घर कर जाय, वह उससे थर्रा उठे, ये सब बातें अनर्गल नहीं तो और क्या हैं? ईश्वर की कृपा कहो कि हम सब पागलखाने में नहीं हैं! यदि हममें से अधिकांश पागल न हो गये हों, तो हम 'ईश्वरभीति' जैसी धारणा का आविष्कार ही क्यों करें? भगवान् बुद्ध का कथन था कि न्यूनाधिक मात्रा में सारी मानवता विक्षिप्त है। लगता है कि यह पूर्णत: सत्य है।

कोई धर्मग्रंथ नहीं, कोई व्यक्ति (अवतार) नहीं, कोई सगुण ईश्वर नहीं। इन सभी को जाना होगा। फिर इन्द्रियों को भी जाना पड़ेगा। हम इन्द्रियों के दास नहीं रह सकते। अभी हम नदी में ठंड से ठिठुरकर मरनेवालों की

भाँति, आबद्ध हैं। सो जाने की ऐसी बलवती ईप्सा द्वारा वे लोग आक्रान्त हैं कि जब उनके साथी उन्हें मृत्यु से सजग कर जाग्रत करना चाहते हैं, तो वे कहते हैं, "जान जाय बला से। लेकिन नींद हराम न होने पाये।" हम इन्द्रिय-सुख की सस्ती वस्तु के शिकार हैं, भले ही उससे हमारा सर्वनाश ही क्यों न हो। हमने यह भुला दिया है कि जीवन में और अधिक महान् वस्तुएँ हैं। (९/८१-८२)

२७. वेदान्त की शिक्षा क्या है? प्रथमतः, यह शिक्षा देता है कि सत्य-दर्शन के लिए तुम्हें अपने से भी बाहर जाने की जरूरत नहीं। सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। कभी किसीने अतीत को नहीं देखा। क्या तुममें से किसीने अतीत को देखा है? जब यह सोचते हो कि तुम अतीत को जानते हो, तो तुम केवल वर्तमान में ही अतीत की कल्पना करते हो। भविष्य देखने के लिए तुम्हें इसे वर्तमान में उतार लाना पड़ेगा, जो वर्तमान यथार्थ सत्य है – शेष सब कल्पना है। वर्तमान ही सब कुछ है। केवल वही 'एक' है – एकमेवाद्वितीयम्। जो कुछ है, सब इसीमें है। अनन्त काल का एक क्षण दूसरे प्रत्येक क्षण की ही भाँति अपने में पूर्ण और सबको समाहित कर लेनेवाला है। जो कुछ है, था और होगा, सब इसी वर्तमान में है। इससे परे किसी कल्पना में कोई प्रवृत्त हो तो वह विफल मनोरथ होगा। (९/८२-८३)

२८. इसलिए वेदान्त का प्रतिपाद्य है 'विश्व का एकत्व', विश्वबन्धुत्व नहीं। मैं भी वैसा हूँ, जैसा एक मनुष्य है, एक जानवर है – बुरा, भला या और कुछ भी। सब परिस्थितियों में यह एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है। आत्मा का अंत नहीं। कहीं कोई विनाश नहीं, देह का भी अंत नहीं। मन भी मरता नहीं है। देह का अन्त हो कैसे? एक पत्ती झड़ जाय तो क्या पेड़ का अंत हो जायगा? यह विराट् विश्व ही मेरी देह है। देखो, कैसी इसकी अविकल परम्परा है। सारे मन मेरे मन हैं। सबके पैरों से मैं ही चलता हूँ। सबके मुँह से मैं ही बोलता हूँ। सबके शरीर में मेरा ही निवास है। (९/८३)

□□□

२३

ज्ञान और विज्ञान

१. तुम स्वभावतः मुक्त हो, तुम स्वभावतः शुद्धस्वभाव हो। यदि तुम अपने को मुक्त समझ सको, तो तुम इसी मुहूर्त मुक्त हो जाओगे, और यदि तुम अपने को बद्ध समझो, तो तुम बद्ध ही रहोगे। यह बड़ी निर्भीक उक्ति है, और जैसा मैंने तुमसे पहले कहा ही है कि मुझे तुमसे बड़ी निर्भयतापूर्वक कहना होगा। यह अभी तुमको शायद भयभीत कर दे, पर तुम जब इस पर चिन्तन करोगे और अपने जीवन में इसे अनुभव करोगे, तब तुम देखोगे कि मेरी बात सत्य है। कारण, यदि मुक्त भाव तुम्हारा स्वभाव-सिद्ध न हो, तब तो किसी भी प्रकार तुम मुक्त न हो सकोगे। यदि तुम मुक्त थे और इस समय किसी कारण से उस मुक्त स्वभाव को खोकर बद्ध हो गये हो, तो इससे प्रमाणित होता है तुम आरम्भ में ही मुक्त नहीं थे। यदि मुक्त थे, तो किसने तुमको बद्ध किया? (२/१८३-८४)

२. आकाश में नाना वर्ण के नाना मेघ आ रहे हैं। वे मुहूर्त भर वहाँ ठहरकर चले जा रहे हैं। किन्तु वह एक नील आकाश बराबर समान भाव से विद्यमान है। आकाश का कदापि परिवर्तन नहीं होता, मेघ का परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार तुम सब भी पहले से पूर्ण हो, अनन्त काल से पूर्ण हो। कुछ भी तुम्हारी प्रकृति को कदापि परिवर्तित कर नहीं सकता, कभी करेगा भी नहीं। यह जो सब धारणा है कि हम अपूर्ण हैं, हम नर हैं, हम नारी हैं, हम पापी हैं, हम मन हैं, हमने विचार किया है, और करेंगे – यह सब भ्रम मात्र है। तुम कदापि विचार नहीं करते, तुम्हारी किसी काल

में देह नहीं थी, तुम किसी काल में अपूर्ण नहीं थे। (८/७०)

३. तुम्हीं सबके मध्य विद्यमान हो, तुम्ही सर्वस्वरूप हो। किसे त्याग करोगे, अथवा किसको ही ग्रहण करोगे? – तुम्हीं समग्र हो! जब इस ज्ञान का उदय होता है, तब मायामोह उसी क्षण उड़ जाता है। (८/७०)

४. देश-काल-निमित्त – ये सभी भ्रम हैं। तुम सोचते हो कि मैं बद्ध हूँ, मुक्त होऊँगा – यह तुम्हारा रोग है। तुम अपरिणामी हो। बातें करना छोड़ दो, चुप होकर बैठे रहो – सभी वस्तुएँ तुम्हारे सामने से उड़ जायँ – वे सब स्वप्न मात्र हैं। पार्थक्य या भेद नामक कोई वस्तु नहीं है, वह सब तो कुसंस्कार मात्र है। अतएव मौन भाव का अवलम्बन करो और अपना स्वरूप पहचानो। (७/८७-८८)

५. किसीसे भय मत करना। तुम सार-सत्तास्वरूप हो। शान्ति में रहो – अपने को चंचल मत करो। तुम कभी बद्ध नहीं हुए हो। पुण्य या पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करता। इन सभी भ्रमों को दूर कर दो और शान्ति में रहो। किसकी उपासना करोगे? उपासना भी कौन करेगा? सभी तो आत्मा हैं। कोई बात कहना, या किसी तरह की चिन्ता करना कुसंस्कार है। बारंबार बोलो, 'मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ।' शेष सब उड़ जाने दो। (७/८८)

६. अज्ञान ही इस समस्त बन्धन का कारण है। हम अज्ञान के ही कारण बँधे हुए हैं। ज्ञान से अज्ञान दूर होगा, यही ज्ञान हमें उस पार ले जायगा। तो इस ज्ञान-प्राप्ति का क्या उपाय है? – प्रेम और भक्ति से, ईश्वराराधन द्वारा और सर्वभूतों को परमात्मा का मन्दिर समझकर प्रेम करने से ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुराग की प्रबलता से ज्ञान का उदय होगा और अज्ञान दूर होगा, सब बन्धन टूट जायँगे और आत्मा को मुक्ति मिलेगी। (५/२७)

७. मानव-जीवन नाना प्रकार के विपरीत भावों से ग्रस्त होने के कारण असामंजस्यपूर्ण है। इस असामंजस्य में कुछ सामंजस्य और सत्य प्राप्त करने के लिए हमें युक्ति-तर्क के अतीत जाना पड़ेगा। पर वह धीरे धीरे करना होगा, नियमित साधना के द्वारा ठीक वैज्ञानिक उपाय से उसमें पहुँचना होगा,

और सारे अंधविश्वास को भी हमें छोड़ देना होगा। अन्य कोई विज्ञान सीखने के समय जैसा हम लोग करते हैं, इस अतिचेतन अवस्था के अध्ययन के लिए ठीक उसी धारा का अनुसरण करना होगा। युक्ति-तर्क को ही अपनी नींव बनाना होगा। युक्ति-तर्क हमें जितनी दूर ले जा सकता है, हम उतनी दूर जायँगे और जब युक्ति-तर्क नहीं चलेगा, तब वही हमें उस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति का रास्ता दिखला देगा। (१/९७)

८. वर्तमान काल में सबसे बड़ा प्रश्न है : अगर ज्ञात और ज्ञेय जगत् का आदि और अन्त अज्ञात तथा अनंत अज्ञेय द्वारा सीमाबद्ध है, तो उस अज्ञात के लिए हम प्रयास ही क्यों करें? क्यों न हम ज्ञात जगत् में ही सन्तुष्ट रहें? क्यों न हम खाने, पीने और संसार की किंचित् भलाई करने में ही सन्तुष्ट रहें? ये प्रश्न अक्सर सुनने को मिलते हैं। विद्वान् प्राध्यापक से लेकर तुतलाते बच्चे तक हमसे कहते हैं, "संसार की भलाई करो; यही सारा धर्म है; इसके परे क्या है, इससे संबंधित प्रश्नों से व्यर्थ अपने को परेशान मत करो।" यह बात इतनी चल पड़ी है कि इसने एक स्थिर सिद्धांत का रूप ले लिया है।

किन्तु सौभाग्यवश हम अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकते। यह जो वर्तमान है, व्यक्त है, वह अव्यक्त का एक अंश मात्र है। इन्द्रियों की चेतना के स्तर पर जो अनन्त आध्यात्मिक जगत् प्रक्षेपित है, यह इन्द्रियजगत् उसका एक नन्हा सा अंश है। ऐसी स्थिति में उस अनन्त विस्तार को समझे बिना यह नन्हा सा प्रक्षेपित भाग कैसे समझा जा सकता है? (२/२६४)

९. कान्ट (Kant) ने निःसंदिग्ध रूप से प्रमाणित किया है कि हम युक्ति-तर्करूपी दुर्भेद्य दीवार का अतिक्रमण कर उसके उस पार नहीं जा सकते किन्तु भारत में तो समस्त विचारधाराओं की पहली बात है – युक्ति के उस पार चले जाना। योगीगण अत्यन्त साहस के साथ इस राज्य की खोज में प्रवृत्त होते हैं, और अन्त में ऐसी एक अवस्था को प्राप्त करने में सफल होते हैं, जो समस्त युक्ति-तर्क के परे है और जिसमें ही केवल हमारी वर्तमा

परिदृश्यमान अवस्था का स्पष्टीकरण मिलता है। यही लाभ है उसके अध्ययन से, जो हमें जगत् के अतीत ले जाता है। त्वं हि नः पिता, योऽस्माकमविद्यायाः परं पार तारयसि। 'तुम हमारे पिता हो, तुम हमें अज्ञान के उस पार ले जाओगे।'* यही धर्मविज्ञान है, और कुछ भी नहीं। (१/११४)

१०. धर्म यह दावा क्यों करता है कि वह तर्क द्वारा परीक्षित होना नहीं चाहता; यह कोई नहीं बतला सकता। तर्क के मानदण्ड के बिना किसी भी प्रकार का यथार्थ निर्णय – धर्म के संबंध में भी – नहीं दिया जा सकता। धर्म कुछ बीभत्स करने की आज्ञा दे सकता है। जैसे, इस्लाम मुसलमानों को विधर्मियों की हत्या करने की आज्ञा देता है। कुरान में स्पष्ट लिखा है, 'यदि विधर्मी इस्लाम ग्रहण न करें, तो उन्हें मार डालो। उन्हें तलवार और आग के घाट उतार दो।' अब यदि हम किसी मुसलमान से कहें कि यह गलत है, तो वह स्वभावतः पूछेगा, "तुम कैसे जानते हो कि यह अच्छा है या बुरा? हमारा शास्त्र कहता है कि यह सत्कार्य है।" यदि तुम कहो कि हमारा शास्त्र प्राचीन है, तो बौद्ध लोग कहेंगे कि उनका शास्त्र तुम्हारे से भी पुराना है और हिन्दू कहेंगे कि उनका शास्त्र सभी की अपेक्षा प्राचीनतम है। अतएव शास्त्र की दुहाई देने से काम नहीं चल सकता। वह प्रतिमान कहाँ है जिससे तुम अन्य सबकी तुलना कर सको? तुम कहोगे, ईसा का 'शैलोपदेश' देखो; मुसलमान कहेंगे, 'कुरान का नीतिशास्त्र' देखो। मुसलमान कहेंगे, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय कौन करेगा, कौन मध्यस्थ बनेगा? बाइबिल और कुरान में जब विवाद हो, तो यह निश्चय है कि उन दोनों में से तो कोई मध्यस्थ नहीं बन सकता। कोई स्वतंत्र व्यक्ति उनका मध्यस्थ हो तो अच्छा हो। यह कार्य किसी ग्रन्थ द्वारा नहीं हो सकता, किसी सार्वभौमिक तत्त्व द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि से अधिक सार्वभौमिक पदार्थ और कोई नहीं है। कहा जाता है, बुद्धि पर्याप्त शक्तिसम्पन्न नहीं है, इससे सत्य की प्राप्ति में सदैव सहायता नहीं मिलती। प्रायः वह भूलें करती है,

* प्रश्नोपनिषद ॥६।८॥

अतः हमें किसी न किसी धर्मसंघ की प्रामाणिकता में विश्वास करना चाहिए ऐसा मुझसे एकबार एक रोमन कैथलिक ने कहा था। किंतु मेरी समझ में यह युक्ति नहीं आयी। मैं कहूँगा कि यदि बुद्धि दुर्बल है, तो पुरोहित-सम्प्रदाय और भी दुर्बल होगे। मैं उन लोगों की बात सुनने की अपेक्षा बुद्धि की बात सुनना अधिक पसन्द करूँगा, क्योंकि, बुद्धि में चाहे जितना दोष क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ सत्यलाभ की सम्भावना तो है, किन्तु दूसरी ओर तो किसी सत्य को पाने की आशा ही नहीं है। (८/४३)

११. प्रश्न यह उठ सकता है कि यह विविधता किस प्रकार सत्य हो सकती है? एक चीज सत्य होने पर उसका विपरीत झूठ होगा। एक ही समय दो विरोधी मत किस प्रकार सत्य हो सकते हैं? मैं इसी प्रश्न का उत्तर देना चाहता हूँ। उसके पहले मैं एक बात तुमसे पूछता हूँ कि पृथ्वी के धर्म क्या सचमुच परस्पर विरोधी हैं? मेरा आशय उन बाह्याचारों से नहीं है, जिनमें महान् विचार आवेष्टित हैं। मेरा आशय विविध धर्मों में व्यवहृत मन्दिर, भाषा, क्रियाकाण्ड, शास्त्र प्रभृति की विविधता से नहीं है, मैं प्रत्येक धर्म के भीतर की आत्मा की बात कहता हूँ। प्रत्येक धर्म के पीछे एक आत्मा है और एक धर्म की आत्मा अन्य धर्म की आत्मा से पृथक् हो सकती है; परन्तु इसलिए क्या वे परस्पर विरोधी हैं? वे परस्पर विरोधी हैं या एक दूसरे के पूरक हैं? यही प्रश्न है। मैं जब नितान्त बालक था, तभी से इस प्रश्न पर मैंने विचार आरम्भ किया है और सारे जीवन इस पर सोचता रहा हूँ। शायद मेरे निष्कर्षों से तुम्हारा कोई उपकार हो, इसी विचार से मैं उसे तुम्हारे निकट व्यक्त करता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; वरन् परस्पर पूरक हैं। प्रत्येक धर्म मानो महान् सार्वभौमिक सत्य के एक एक अंश को मूर्तिमंत करके प्रस्फुटित करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा देता है। इसलिए यह योगदान का विषय है – वर्जन का नहीं, यही समझना होगा। एक एक महान् भाव को लेकर सम्प्रदाय पर सम्प्रदाय गठित होते रहते हैं; आदर्श में आदर्श मिलते जाते हैं। इसी प्रकार मानवजाति उन्नति की ओर अग्रसर होती रहती है। मनुष्य कभी भ्रम से सत्य में उपनीत नहीं

होता है, परन्तु सत्य से ही सत्य में गमन करता है; निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य पर आरूढ़ होता है – परन्तु भ्रम से सत्य में नहीं। (३/१२९-३०)

□□□

२४

माया

१. हिन्दू जब कहते हैं कि 'संसार माया है', तो साधारण मनुष्य की यह धारणा होती है कि 'संसार एक भ्रम है'। इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है; क्योंकि बौद्ध दार्शनिकों की एक श्रेणी के दार्शनिक बाह्य जगत् के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु वेदान्त में माया का जो अन्तिम विकसित रूप है, वह न तो विज्ञानवाद है, न यथार्थवाद (realism) * और न किसी प्रकार का सिद्धान्त ही। वह तो तथ्यों का सहज वर्णन मात्र है – हम क्या हैं और अपने चारों ओर हम क्या देखते हैं। (२/४४)

२. इस देश, काल और निमित्त में हम एक विशेषता यह देखते हैं कि वे अन्यान्य वस्तुओं से पृथक् होकर नहीं रह सकते। तुम शुद्ध 'देश' की कल्पना करो, जिसमें न कोई रंग है, न सीमा, और न चारों ओर की किसी भी वस्तु से कोई संसर्ग है। तो तुम देखोगे कि तुम इसकी कल्पना कर ही नहीं सकते। देश सम्बन्धी विचार करते ही तुमको दो सीमाओं के बीच अथवा तीन वस्तुओं के बीच स्थित देश की कल्पना करनी होगी। अत: हमने देखा कि देश का अस्तित्व अन्य किसी वस्तु पर निर्भर रहता है। काल के सम्बन्ध में भी यही बात है। शुद्ध काल के सम्बन्ध में तुम कोई धारणा नहीं कर सकते। काल की धारणा करने के लिए तुमको एक पूर्ववर्ती और एक परवर्ती घटना लेनी पड़ेगी और अनुक्रम की धारणा के द्वारा उन दोनों को मिलाना होगा। जिस प्रकार देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार काल भी दो घटनाओं पर निर्भर रहता है। और 'निमित्त'

अथवा 'कार्य-कारणवाद' की धारणा इस देश और काल पर निर्भर रहती है। (२/९०)

३. जिस प्रकार कोई भी व्यक्ती अपनी सत्ता को नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार देश और काल के नियम ने जो सीमा खड़ी कर दी है, उसका अतिक्रमण करने की क्षमता किसी में नहीं। देश-काल-निमित्त सम्बन्धी रहस्य को खोलने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, क्योंकि इसकी चेष्टा करते ही इन तीनों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। तब भला यह किस प्रकार सम्भव है? और ऐसा होने पर फिर जगत् के अस्तित्व के कथन का अर्थ भी क्या है? 'इस जगत् का अस्तित्व नहीं है', 'जगत् मिथ्या है' – इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रियसम्पन्न होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है – इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता नहीं है। पर इसको अस्तित्वशून्य या असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसमें तथा इसीके माध्यम से हम कार्य करते हैं। यह सत् और असत् का मिश्रण है। (२/४५-४६)

४. चाहे पदार्थ कहो, चाहे चेतन, चाहे आत्मा, चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारो, बात एक ही है – हम यह नहीं कह सकते कि ये सब हैं, और यह भी नहीं कह सकते कि ये सब नहीं हैं। हम इन सबको एक भी नहीं कह सकते और अनेक भी नहीं। यह प्रकाश और अन्धकार का खेल – यह अविविक्त, अपृथक् और अविभाज्य मिश्रण, जिसमें सारी घटनाएँ कभी सत्य मालूम होती हैं, कभी मिथ्या – सदा से चल रहा है। इसके कारण कभी लगता है कि हम जाग्रत हैं, कभी लगता है कि सोये हुए हैं। बस, यही माया है, यही वस्तु-स्थिति है। इसी माया में हमारा जन्म हुआ है, इसीमें हम जीवित हैं; इसीमें सोच-विचार करते हैं, इसीमें स्वप्न देखते हैं। इसीमें

हम दार्शनिक हैं, इसीमें साधु हैं; यही नहीं, हम इस माया में ही कभी दानव और कभी देवता हो जाते हैं। विचार के रथ पर चढ़कर चाहे जितनी दूर जाओ, अपनी धारणा को ऊँचे से ऊँचा बनाओ, उसे अनन्त या जो इच्छा हो, नाम दो, पर तो भी यह सब माया के ही भीतर है। इसके विपरीत हो ही नहीं सकता; और मनुष्य का जो कुछ ज्ञान है, वह बस, इस माया का ही साधारणीकरण है – इस माया के दिखनेवाले स्वरूप को ही जानने की चेष्टा करना है। यह माया नाम-रूप का कार्य है। जिस किसी वस्तु का रूप है, जो भी कुछ तुम्हारे मन में किसी प्रकार के भाव की जागृति कर देती है, वह सब माया के ही अन्तर्गत है। जो कुछ देश-काल-निमित्त के नियम के अधीन है, वही माया के अन्तर्गत है। (२/६६-६७)

५. इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है – और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ़ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंग में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायँ, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं में और मनुष्यों में भेद-भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायँ, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है। (५/३०९-१०)

६. शंकराचार्य के अनुयायियों के अनुसार (सही अर्थ में ये ही

अद्वैतवादी हैं) समस्त विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है, इस सम्बन्ध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका सर्प में परिवर्तन नहीं होता। इस तरह सारा विश्व वास्तव में सत् है। सत् का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परिवर्तन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से नाम-रूप के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अत: नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ एक हैं। (अद्वैत) वेदान्तियों के अनुसार सत् और जगत् (phenomenon) परस्पर भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। रज्जु का सर्प जैसा दीखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर सर्प का दिखना भी समाप्त हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब उसके लिए जगत् नहीं होता। अज्ञान, जिसे माया कहते हैं, जगत् का कारण है, क्योंकि इसीके कारण निरपेक्ष अपरिवर्तनशील सत् व्यक्त जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नहीं है। यह सत् भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एक मात्र सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से तो माया को असत् कहा जाना चाहिए, किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी संभव नहीं हो सकता। अत: यह न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त में इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। (९/६८)

७: नारद ने एक दिन श्रीकृष्ण से पूछा, "प्रभो, माया कैसी है, मैं देखना चाहता हूँ।" एक दिन श्रीकृष्ण नारद को लेकर एक मरुस्थल की ओर चले। बहुत दूर जाने के बाद श्रीकृष्ण नारद से बोले, "नारद, मुझे बड़ी प्यास लगी है। क्या कहीं से थोड़ा सा जल ला सकते हो?" नारद बोले, "प्रभो, ठहरिए, मैं अभी जल लिये आया।" यह कहकर नारद चले

गये। कुछ दूर पर एक गाँव था, नारद वहीं जल की खोज में गये। एक मकान में जाकर उन्होंने दरवाजा खटखटाया। द्वार खुला और एक परम सुन्दरी कन्या उनके सम्मुख आकर खड़ी हुई। उसे देखते ही नारद सब कुछ भूल गये। भगवान् मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, वे प्यासे होंगे, हो सकता है, प्यास से उनके प्राण भी निकल जायँ – ये सारी बातें नारद भूल गये। सब कुछ भूलकर वे उस कन्या के साथ बातचीत करने लगे। उस दिन वे अपने प्रभु के पास लौटे ही नहीं। दूसरे दिन वे फिर से उस लड़की के घर आ उपस्थित हुए और उससे बातचीत करने लगे। धीरे धीरे बातचीत ने प्रणय का रूप धारण कर लिया। तब नारद उस कन्या के पिता के पास जाकर उस कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति माँगने लगे। विवाह हो गया। नव दम्पति उसी गाँव में रहने लगे। धीरे धीरे उनके सन्तानें भी हुई। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये। इस बीच नारद के ससुर मर गये और वे उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो गये। पुत्र-कलत्र, भूमि, पशु, सम्पत्ति, गृह आदि को लेकर नारद बड़े सुख-चैन से दिन बिताने लगे। कम से कम उन्हें तो यही लगने लगा कि वे बड़े सुखी हैं। इतने में उस देश में बाढ़ आयी। रात के समय नदी दोनों कगारों को तोड़कर बहने लगी और सारा गाँव डूब गया। मकान गिरने लगे; मनुष्य और पशु बहकर डूबने लगे, नदी की धार में सब कुछ बहने लगा। नारद को भी भागना पड़ा। एक हाथ से उन्होंने स्त्री को पकड़ा, दूसरे हाथ से दो बच्चों को, और एक बालक को कंधे पर बिठाकर वे उस भयंकर बाढ़ से बचने का प्रयत्न करने लगे। कुछ ही दूर जाने के बाद उन्हें लहरों का वेग अत्यन्त तीव्र प्रतीत होने लगा। कन्धे पर बैठे हुए शिशु की नारद किसी प्रकार रक्षा न कर सके; वह गिरकर तरंगों में बह गया। उसकी रक्षा करने के प्रयास में एक और बालक, जिसका हाथ वे पकड़े हुए थे, गिरकर डूब गया। निराशा और दु:ख से नारद आर्तनाद करने लगे। अपनी पत्नी को वे अपने शरीर की सारी शक्ति लगाकर पकड़े हुए थे, अन्त में तरंगों के वेग से पत्नी भी उनके हाथ से छूट गयी और वे स्वयं तट पर जा गिरे एवं मिट्टी में लोटपोट हो बड़े कातर स्वर से विलाप करने लगे।

इसी समय मानो किसी ने उनकी पीठ पर कोमल हाथ रखा और कहा, "बच्चे जल कहाँ है? तुम जल लेने गये थे न, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। तुम्हें गये आधा घण्टा बीत चुका।" "आधा घण्टा!" नारद चिल्ला पड़े। उनके मन में तो बारह वर्ष बीत चुके थे, और आधे घण्टे के भीतर ही ये सब दृश्य उनके मन में से होकर निकल गये! और यही माया है! (२/७५-७६)

□□□

२५

आत्मा

१. प्रत्येक के भीतर अवस्थित सत्य तो वही एकमात्र, अनन्त, नित्यानन्दमय, नित्य शुद्ध, नित्य पूर्ण ब्रह्म है। वही यह आत्मा है। वह पुण्यशील, पापी, सुखी, दुःखी, सुन्दर, कुरूप, मनुष्य, पशु, सबमें समान रूप से वर्तमान है। वह ज्योतिर्मय है। (२/१७१)

२. यहाँ पर मैं खड़ा हूँ और अपनी आँखें बन्द करके यदि मैं अपने अस्तित्व – 'मैं' 'मैं', 'मैं' को समझने का प्रयत्न करूँ, तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? इस भाव का कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के संघात के सिवा और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है – 'नहीं' मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। (१/८-९)

३. वेद कहते हैं कि समस्त संसार स्वतंत्रता और परतंत्रता का, मुक्ति एवं बन्धन का मिश्रण है, किन्तु इन सबके माध्यम से स्वतन्त्र, अमर, शुद्ध, पूर्ण और पवित्र आत्मा देदीप्यमान है। क्योंकि यदि वह स्वतन्त्र है, तो नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्यु तो एक परिवर्तन मात्र ही है और कुछ स्थितियों पर निर्भर करती है; यदि वह स्वतंत्र है, तो वह पूर्ण अवश्य होगी, क्योंकि अपूर्णता भी तो एक स्थिति मात्र है और इसलिए वह परतंत्र है। और यह अमर और पूर्ण आत्मा सर्वोच्च ईश्वर से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र मानव में एक ही होनी चाहिए। उन दोनों के बीच का अन्तर केवल आत्मा की अभिव्यक्ति

के परिमाण का अंतर होगा। (१/२५९)

४. यह बात नहीं कि 'आत्मा को ज्ञान होता है', वरन् वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह नहीं कि आत्मा का अस्तित्व है, वरन् वह स्वयं अस्तित्वस्वरूप है। आत्मा सुखी है, ऐसी बात नहीं, आत्मा तो सुखस्वरूप है। जो सुखी होता है, वह उस सुख को किसी दूसरे से प्राप्त करता है – वह अन्य किसी का प्रतिबिम्ब है। जिसको ज्ञान है, उसने अवश्य उस ज्ञान को किसी दूसरे से प्राप्त किया है, वह ज्ञान प्रतिबिम्बस्वरूप है। जिसका अस्तित्व सापेक्ष है, उसका वह अस्तित्व दूसरे किसी के अस्तित्व पर निर्भर करता है। (२/१११-१२)

५. वही वस्तु जो आज हमें विश्व के रूप में दीख रही है, ईश्वर (परब्रह्म) दिखायी देगी और वही ईश्वर, जो इतने दीर्घ काल तक बाहर प्रतीत होता था, अब अन्त:स्थ, अपनी स्वयं आत्मा ही प्रतीत होगा। (१/२३९)

६. आत्मा में कोई भी विकार नहीं है – वह असीम, पूर्ण, शाश्वत और सच्चिदानन्द है। (९/९८)

७. आपातविरोधी सम्प्रदायों के बीच यदि कोई साधारण मत है, तो वह यही है कि आत्मा में पहले से ही महिमा, तेज और पवित्रता वर्तमान हैं। केवल रामानुज के मत में आत्मा कभी कभी संकुचित हो जाती है और कभी कभी विकसित, परन्तु शंकराचार्य के मतानुसार संकोच-विकास भ्रम मात्र है। इस मतभेद पर ध्यान मत दो। सभी तो यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त चाहे जिस भाव में रहे, वह शक्ति है जरूर। और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास कर सकोगे, उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा। (५/१७८)

८. स्वाधीनता की – मुक्ति की वह भावना, जो हम सबों में हुआ करती है, यह संकेत करती है कि हमारे अन्तराल में, शरीर और मन से परे भी कुछ और है। हमारी अन्तर्यामी आत्मा स्वरूपत: स्वाधीन है और वही हममें मुक्ति की इच्छा जाग्रत करती है। (१/२५६)

९. प्रत्येक जीवात्मा एक नक्षत्र है, और ये सब नक्षत्र ईश्वररूपी उस अनन्त निर्मल नील आकाश में विन्यस्त हैं। वही ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा का मूलस्वरूप है, वही प्रत्येक का यथार्थ स्वरूप और वही प्रत्येक और सबका प्रकृत व्यक्तित्व है। इन जीवात्मा-रूप नक्षत्रों में से कुछ के, जो हमारी दृष्टि-सीमा से परे चले गये हैं, अनुसन्धान से ही धर्म का आरम्भ हुआ और यह अनुसन्धान तब समाप्त हुआ, जब हमने पाया कि उन सबकी अवस्थिति परमात्मा में ही है और हम भी उसीमें हैं। (३/३७६)

१०. अतएव जान लो कि तुम वही हो, और इसी साँचे में अपना जीवन ढालो। जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानकर अपना सारा जीवन उसके अनुसार गठित करता है, वह फिर कभी अन्धकार में मारा मारा नहीं फिरता। (२/१३२)

११. आत्मा के विषय में यह सत्य पहले सुना जाता है। यदि तुमने इसे सुन लिया है, तो इस पर विचार करो। एक बार वह कर लिया है, तो इस पर ध्यान करो। व्यर्थ, निरर्थक तर्क मत करो! एक बार अपने को संतुष्ट कर लो कि तुम अनन्त आत्मा हो। यदि यह सत्य है, तो यह कहना मूर्खता है कि तुम शरीर हो, तुम आत्मा हो और उसकी अनुभूति प्राप्त की जानी चाहिए। आत्मा अपने को आत्मा के रूप में देखे। अभी आत्मा अपने को शरीर के रूप में देख रही है। इसका अंत होना चाहिए। जिस क्षण तुम यह अनुभव करने लगोगे, तुम मुक्त हो जाओगे। (३/१७८)

१२. जिस प्रकार हमें आँख के होने का ज्ञान उसके कार्यों द्वारा ही होता है, उसी प्रकार हम आत्मा को बिना उसके कार्यों के नहीं देख सकते। इसे इन्द्रियगम्य अनुभूति के निम्न स्तर पर नहीं लाया जा सकता। यह विश्व की प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान है, यद्यपि यह स्वयं अधिष्ठानरहित है। (८/११७)

१३. जो स्त्री पति से प्रेम करती है, वह पति के लिए नहीं है, किन्तु आत्मा के लिए ही स्त्री पति से प्रेम करती है; क्योंकि वह आत्मा से प्रेम करती है। स्त्री से स्त्री के लिए कोई प्रेम नहीं करता, पर क्योंकि वह आत्मा से प्रेम करता है, अत: स्त्री से प्रेम करता है। कोई सन्तान से सन्तान के

लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु वर आत्मा से प्रेम करता है, अतः सन्तान से प्रेम करता है। कोई भी अर्थ से अर्थ के लिए प्रेम नहीं करता किन्तु आत्मा से प्रेम करता है, अतः अर्थ से प्रेम करता है। कोई भी ब्राह्मण को ब्राह्मण के लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु आत्मा से प्रेम करता है, इसलिए ही ब्राह्मण से प्रेम करता है। कोई भी इस जगत् को जगत् के लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु वह आत्मा से प्रेम करता है, अतः उसको जगत् प्रिय है। इसी प्रकार कोई भी क्षत्रिय को क्षत्रिय के लिए प्रेम नहीं करता, वरन् वह आत्मा को प्रेम करता है। देवगण से कोई भी देवगण के लिए प्रेम नहीं करता, वरन् वह आत्मा से प्रेम करता है। अधिक क्या, किसी वस्तु से कोई उस वस्तु के लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु उसके भीतर जो आत्मा विद्यमान है, उसके लिए ही वह उस वस्तु से प्रेम करता है। अतएव इस आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना होगा, मनन करना होगा, निदिध्यासन करना होगा। (७/१२५-२६)

१४. भीतर नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मारूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उसका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है। (६/२२१)

१५. 'अज्ञ लोग बिना समझे जिनकी उपासना करते हैं, मैं तुम्हारे निकट उन्हींका उपदेश करता हूँ।'

यह एक अद्वितीय ब्रह्म ही सभी ज्ञात वस्तुओं की अपेक्षा 'ज्ञाततम' है वहीं एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम सर्वत्र देखते हैं। सभी अपनी आत्मा को जानते हैं, इतना ही नहीं, पशु भी जानता है कि मैं हूँ। हम जो कुछ जानते हैं, सब आत्मा का ही बहिःप्रसारण है, विस्तारस्वरूप है। (७/१०९-१०)

१६. वह सत्यस्वरूप आत्मा इन इन्द्रियों से अत्यन्त परे है। दर्शन-स्पर्शनादि की साधनभूत ये इन्द्रियाँ केवल बाह्य वस्तुओं को ही देखती हैं, लेकिन यह स्वयंभू आत्मा अन्तर्मुख होने पर ही देखी जा सकती है। यहाँ साधक के लिए किस गुण की आवश्यकता है, इसका तुम्हें स्मरण रहना चाहिए। वह है अपने नेत्रों को अन्तर्मुख कर आत्मा को जानने की

अभिलाषा। (३/१६४)

१७. "जो असत्-कार्य करनेवाले हैं, जिनका मन शान्त नहीं है, वे इसे कभी नहीं पा सकते। जिनका हृदय पवित्र है, जिनका कार्य पवित्र है और जिनकी इन्द्रियाँ संयत हैं, उन्हीं के निकट यह आत्मा प्रकाशित होती है।" (२/१७२)

१८. 'इस आत्मा को न कोई वाग्बल से प्राप्त कर सकता है, न बुद्धि-कौशल से और न अधिक शास्त्राध्ययन से।' (५/२३५)

१९. यहाँ, वहाँ, मन्दिर में, गिरजाघर में, स्वर्ग में, मर्त्य में, विभिन्न स्थानों में, अनेक उपायों से अन्वेषण करने के बाद अन्त में हमने जहाँ से आरम्भ किया था, वहीं अर्थात् अपनी आत्मा में ही हम एक चक्कर पूरा करके वापस आ जाते हैं और देखते हैं कि जिसकी हम समस्त जगत् में खोज करते फिर रहे थे, जिसके लिए हमने मन्दिरों और गिरजों में जा जा कातर होकर प्रार्थनाएँ कीं, आँसू बहाये, जिसको हम सुदूर आकाश में मेघराशि के पीछे छिपा हुआ अव्यक्त और रहस्यमय समझते रहे, वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणों का प्राण है, हमारा शरीर है, हमारी आत्मा है – तुम्हीं 'मैं' हो, मैं ही 'तुम' हूँ। (२/१४)

□□□

२६

ब्रह्म या अन्तिम सत्य

१. वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म इस शर्त को पूर्ण करता है, क्योंकि जिस अंतिम सामान्यीकरण में हम पहुँच सकते हैं, वह ब्रह्म ही हो सकता है। वह गुणातीत है, किन्तु, सत्, चित्, आनन्दस्वरूप – निरपेक्ष है। मानवीय चेतना की पहुँच जिस अन्तिम सामान्यीकरण तक हो सकती है, वह यही 'सत्' है। 'चित्' सामान्य ज्ञान नहीं, किन्तु उस तत्त्व का मूल है, जो अपने को विकास-क्रम के अनुसार प्राणियों एवं मानवों में ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। उस ज्ञान के सार को यदि चेतना से भी परे एक अन्तिम तथ्य कहा जाय, तो भी अनुचित न होगा। ज्ञान का असली आशय यही है, एवं सृष्टि में वस्तुओं के मूलभूत एकत्व के रूप में हम इसीको पाते हैं। (२/२८२-८३)

२. ब्रह्म के या वेदान्त के ईश्वर के बाहर कुछ नहीं है – बिल्कुल कुछ नहीं। यह सब 'वही' है: विश्व में उसकी ही सत्ता है। 'वह' स्वयं विश्व ही है। 'तू ही पुरुष है, तू स्त्री है, यौवन-मद में विचरण करते हुए तू ही युवा पुरुष है, पग पग पर लड़खड़ाता हुआ वह वृद्ध पुरुष भी तू ही है। (२/२८४)

३. सच्चिदानन्द शब्द का अर्थ है – सत् यानी अस्तित्व, चित् अर्थात् चैतन्य या ज्ञान और आनन्द अर्थात् प्रेम। भगवान् के 'सत्' भाव के विषय में भक्त और ज्ञानी में कोई विवाद नहीं। परन्तु ज्ञानमार्गी ब्रह्म की चित् या चैतन्य सत्ता पर ही सदा अधिक जोर देते हैं और भक्त सदा 'आनन्द' सत्ता

पर दृष्टि रखते हैं। परन्तु 'चित्' स्वरूप की अनुभूति होने के साथ ही आनंदस्वरूप की भी उपलब्धि हो जाती है, क्योंकि जो चित् है, वही आनन्द है। (६/१३६)

४. हम कभी कभी किसी पदार्थ का संकेत उसके आस-पास के कुछ व्यापारों के वर्णन द्वारा करते हैं। हम जब ब्रह्म को सच्चिदानन्द नाम से अभिहित करते हैं, तब हम वास्तव में उसी अनिर्वचनीय सर्वातीत सत्तारूपी समुद्र के तट मात्र का कुछ संकेत देते हैं। हम इसे 'अस्ति' स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि अस्ति कहने से ही उसके विपरीत 'नास्ति' का ज्ञान भी होता है, अतएव वह भी सापेक्षिक है। कोई भी धारणा या कल्पना व्यर्थ है। केवल 'नेति' 'नेति' – (यह नहीं, वह नहीं) ही कहा जा सकता है, क्योंकि विचार मात्र करना भी सीमित कर देना है और अतः खो देना है।,(७/८८)

५. ब्रह्म एक होकर भी व्यावहारिक रूप में अनेक रूपों में सामने विद्यमान है। नाम तथा रूप व्यवहार के मूल में मौजूद हैं। जिस प्रकार घड़े का नाम-रूप छोड़ देने से क्या देखता है – केवल मिट्टी, जो उसकी वास्तविक सत्ता है। इसी प्रकार भ्रम में घट, पट इत्यादि का भी तू विचार करता है तथा उन्हें देखता है। ज्ञान-प्रतिबन्धक यह जो अज्ञान है, जिसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है, उसीको लेकर व्यवहार चल रहा है। स्त्री-पुत्र, देह-मन जो कुछ है, सभी नाम-रूप की सहायता से अज्ञान की सृष्टि में देखने में आते हैं। ज्योंही अज्ञान हट जायगा, त्योंही ब्रह्म सत्ता की अनुभूति हो जायगी। (६/१२४)

६. तू भी वही पूर्ण ब्रह्म है। इसी मुहूर्त में ठीक ठीक अपने को उसी रूप में सोचने पर उस बात की अनुभूति हो सकती है। केवल अनुभूति की ही कमी है। तू जो नौकरी करके स्त्री-पुत्रों के लिए इतना परिश्रम कर रहा है, उसका भी उद्देश्य उस सच्चिदानंद की प्राप्ति ही है। इस मोह के दाँव-पेंच में पड़कर, मार खा खाकर धीरे धीरे अपने स्वरूप पर दृष्टि पड़ेगी। वासना है, इसलिए मार खा रहा है और आगे भी खायेगा। बस, इसी प्रकार मार खा खाकर अपनी ओर दृष्टि पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति की किसी न किसी

समय अवश्य ही पड़ेगी। अन्तर इतना ही है कि किसी की इसी जन्म में और किसी की लाखों जन्मों के बाद पड़ती है। (६/१३३)

७. यह सम्पूर्ण विश्व कभी ब्रह्म में ही था। ब्रह्म से यह मानो निकल आया है और तब से सतत भ्रमण-करता हुआ यह पुनः अपने उद्गम स्थान पर वापस जाना चाहता है। यह सारा क्रम कुछ ऐसा ही है, जैसे डाइनेमो से बिजली का निकलना और विभिन्न धाराओं से चक्कर काटकर पुनः उसीमें चला जाना। आत्मा ब्रह्म से प्रक्षेपित होकर विभिन्न रूपों – वनस्पति तथा पशुलोकों – से होती हुई मनुष्य के रूप में आविर्भूत होती है। मनुष्य ब्रह्म के सबसे अधिक समीप है। वस्तुतः जीवन का सारा संग्राम इसीलिए है कि पुनः आत्मा ब्रह्म में मिल जाय। (२/२२०)

८. जो इन्द्रियों से अतीत है, जो अरूप है, जो रस के अतीत है, जो अविकार्य, अचिन्त्य, अनन्त और अनश्वर है, उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जाता है। (३/१६४)

□□□

२७

स्वातंत्र्य और मुक्ति

१. मन आसानी से नहीं जीता जा सकता। हलकी से हलकी उत्तेजना या खतरा आने पर, प्रत्येक छोटी सी घटना उपस्थित होने पर, जो मन तरंगायमान होने लगते हैं, उनकी दशा भला क्या होगी? जब इस प्रकार के विकार मन में उत्पन्न होते हैं, तब महानता और आध्यात्मिकता की चर्चा का क्या प्रयोजन? मन की यह अस्थिर दशा बदलनी ही होगी। हमें स्वयं अपने से पूछना चाहिए कि हमारे ऊपर बाह्य जगत् की कहाँ तक प्रतिक्रिया हो सकती है और अपने बाहर की तमाम शक्तियों के बावजूद कहाँ तक हम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। जब दुनिया की सारी शक्तियों को हम अपना सन्तुलन बिगाड़ने से रोकने में सफल हो जायँ, तभी हम मुक्त हैं और उसके पूर्व नहीं। वही उद्धार है। (९/१०३)

२. एक परमाणु से लेकर मनुष्य तक, जड़-तत्त्व के अचेतन प्राणहीन कण से लेकर इस पृथ्वी की सर्वोच्च सत्ता – मानवात्मा तक, जो कुछ हम इस विश्व में प्रत्यक्ष करते हैं, वे सब मुक्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। असल में यह समग्र विश्व इस मुक्ति के लिए संग्राम का ही परिणाम है। (३/८१)

३. इस विश्व में हम जो कुछ देखते हैं, उन सबकी जड़ में मुक्ति-लाभ की यह चेष्टा ही है। इसीकी प्रेरणा से साधु प्रार्थना करता है और डाकू लूटता है। जब कार्य-विधि अनुचित होती है, तो उसे हम अशुभ कहते हैं और जब उसकी अभिव्यक्ति उचित तथा उच्च होती है, तो उसे हम शुभ कहते हैं। परन्तु दोनों दशाओं में प्रेरणा एक ही होती है, और वह है मुक्ति

की चेष्टा। (३/८१)

४. चेतन अथवा अचेतन समस्त प्रकृति का लक्ष्य यह मुक्ति ही है, और जाने या अनजाने सारा जगत् इसी लक्ष्य की ओर पहुँचने का यत्न कर रहा है। किंतु जिस मुक्ति की खोज एक साधु करता है, वह उस मुक्ति से बहुत भिन्न होती है, जिसकी खोज डाकू करता है। साधु जिस मुक्ति को चाहता है, उससे अनन्त अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी हो जाता है, परन्तु डाकू की इष्ट मुक्ति उसकी आत्मा के लिए दूसरे पाशों की सृष्टि कर देती है। (३/८२)

५. हम कहते हैं कि हमें मुक्ति की ही खोज करनी है, और वह मुक्ति है परमात्मा। यह वही आनन्द है, जो हर वस्तु में निहित है; किन्तु जब मनुष्य उसे किसी ससीम वस्तु में ढूँढ़ता है, तो उसका कण मात्र पाता है। चोर को चोरी करने में वही आनन्द मिलता है, जो भक्त को भगवान् में; किन्तु चोर उस आनन्द का केवल कण मात्र पाता है और साथ ही दुःख का ढेर भी। यथार्थ आनन्द परमात्मा है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, मुक्तिस्वरूप है; और जो कुछ भी बन्धनकारक है, वह ईश्वर नहीं है। (९/१६६-६७)

६. मनुष्य तो मुक्त ही है, किन्तु उसे इस सत्य को खोजना पड़ेगा। वह प्रति क्षण इसे भूल जाता है। जाने या बिना जाने अपने इस मुक्तस्वरूप को पहचान लेना – यही प्रत्येक मानव का सम्पूर्ण जीवन है। ज्ञानी और अज्ञानी में भेद यही है कि ज्ञानी इसको जान-बूझकर करता है और अज्ञानी बिना जाने। (९/१६७)

७. स्वतंत्रता की कल्पना ही मुक्ति की सच्ची कल्पना है – हर वस्तु से स्वतंत्रता, संवेदनाओं से स्वतंत्रता, चाहे वे सुख की हों या दुःख की, शुभ से और अशुभ से भी। (१०/२५)

८. हम सदा मुक्त हैं, यदि हम केवल इस पर विश्वास भर करें, केवल पर्याप्त श्रद्धा। तुम आत्मा हो, मुक्त और शाश्वत, चिर मुक्त, चिर पवित्र। अभीष्ट श्रद्धा रखो और क्षण भर में तुम मुक्त हो जाओगे।

हर वस्तु देश, काल, कार्य-कारण से बँधी है। आत्मा सब देश, सब काल, सब कार्य-कारणों से परे है। जो बँधी है, वह प्रकृति है, आत्मा नहीं।

इसलिए अपनी मुक्ति घोषित करो और जो हो, वह बनो – सदा मुक्त, सदा पवित्र। (१०/२५-२६)

९. मुक्ति-लाभ करने के लिए हमें इस विश्व की सीमाओं के परे जाना होगा; मुक्ति यहाँ प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्ण साम्यावस्था का लाभ, अथवा ईसाई जिसे 'बुद्धि से अतीत शान्ति' कहते हैं, उसकी प्राप्ति इस जगत् में नहीं हो सकती, और न स्वर्ग में अथवा न किसी ऐसे स्थान में जहाँ हमारे मन और विचार जा सकते हैं, जहाँ हम इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं अथवा जहाँ हमारी कल्पना-शक्ति काम कर सकती है। इस प्रकार के किसी भी स्थान में हमें मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि ऐसे सब स्थान निश्चित ही हमारे जगत् के अन्तर्गत होंगे, और यह जगत् देश, काल और निमित्त के बन्धनों से जकड़ा हुआ है। (३/७०-७१)

१०. यदि हम मन एवं इन्द्रियगोचर इस छोटे से जगत् से अपनी आसक्ति हटा लें, तो उसी क्षण हम मुक्त हो जायँगे। बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है, सारे नियमों के बाहर चले जाना – कार्य-कारण-शृंखला के बाहर हो जाना। (३/७१)

११. स्वतन्त्र अवस्था, जहाँ कोई बन्धन नहीं, कोई परिवर्तन नहीं, प्रकृति नहीं, कुछ ऐसा भी नहीं जो उसमें कोई परिणाम उत्पन्न कर सके – वेदान्त के ईश्वर-सम्बन्धी इन धारणाओं की जड़ में पूर्ण स्वतन्त्रता से उत्पन्न आनन्द व चिरशक्ति के धर्म की यह धारणा सर्वोच्च है। यह स्वातंत्र्य तुम्हारे भीतर है, मेरे भीतर है और यही एकमात्र यथार्थ स्वातंत्र्य है। (२/२९६)

१२. ईश्वरोपासना, साधु महापुरुषों की पूजा, एकाग्रता, ध्यान और निष्काम कर्म – ये सब मायाजाल को काटकर निकलने के उपाय हैं; किन्तु हमारे भीतर पहले से तीव्र मुमुक्षुत्व रहना चाहिए। जो ज्योति प्रकाशित होकर हमारे हृदयान्धकार को दूर कर देगी, वह तो हमारे भीतर ही है – यह है

वह ज्ञान, जो हमारा स्वभाव या स्वरूप है। (यह ज्ञान हमारा 'जन्मगत स्वत्व' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तव में हमारा जन्म तो है ही नहीं।) केवल जो मेघ इस ज्ञानसूर्य को आवृत किये हुए हैं, हमें उन्हींको दूर कर देना होगा। (७/१०८)

१३. प्रत्येक धर्म में मुक्ति-लाभ की इस प्रकार चेष्टा की अभिव्यक्ति पायी जाती है। यही सारी नैतिकता की, सारी निःस्वार्थपरता की नींव है। निःस्वार्थपरता का अर्थ है – मनुष्य अपना क्षुद्र शरीर ही है, इस भाव से परे होना। जब हम किसी को कोई सत्-कार्य करते, दूसरों की सहायता करते देखते हैं, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि उसे 'मैं और मेरे' की सीमित परिधि में आबद्ध करके नहीं रखा जा सकता। स्वार्थपरता से इस बाहर निकल आने की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। सारे श्रेष्ठ नीतिशास्त्र यही शिक्षा देते हैं कि सम्पूर्ण निःस्वार्थपरता ही चरम लक्ष्य है। मान लो, किसी मनुष्य ने इस सम्पूर्ण निःस्वार्थपरता को प्राप्त कर लिया, तो फिर उसकी क्या दशा हो जाती है? फिर वह अमुक अमुक नामवाला पहले का क्षुद्र व्यक्ति नहीं रह जाता, वह अनन्त विस्तार प्राप्त कर लेता है। फिर उसका पहले का वह क्षुद्र व्यक्तित्व सदा के लिए नष्ट हो जाता है – अब वह अनन्तस्वरूप हो जाता है, और इस अनन्त विकास की प्राप्ति ही असल में समस्त दार्शनिक एवं नैतिक शिक्षाओं का लक्ष्य है। (३/८२)

१४. हमारी सभी चेष्टाओं का उद्देश्य उत्तरोत्तर स्वाधीन होना है। कारण, पूर्ण स्वाधीनता पाने पर ही हम पूर्णत्व पा सकते हैं। हमें इस बात का ज्ञान हो या न हो, स्वाधीनता पाने की यह चेष्टा ही सभी प्रकार की उपासना-प्रणालियों की भित्ति है। (२/२९२)

१५. मुक्ति ही इस विश्व की प्रेरक है और मुक्ति ही इसका लक्ष्य है। प्रकृति के नियम ऐसी पद्धतियाँ हैं, जिनके द्वारा हम जगदंबा के निर्देशन में, उस मुक्ति तक पहुँचने का संघर्ष करते हैं। मुक्ति के लिए इस विश्वव्यापी संघर्ष की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मनुष्य में मुक्त होने की सजग अभिलाषा के रूप में होती है। यह मुक्ति तीन प्रकार से प्राप्त होती है – कर्म, उपासना

और ज्ञान से।

(क) कर्म – दूसरों की सहायता करने और दूसरों को प्रेम करने का सतत अविरत प्रयत्न।

(ख) उपासना – प्रार्थना-वन्दना, गुणगान और ध्यान।

(ग) ज्ञान – जो ध्यान से उत्पन्न होता है। (९/३१५-१६)

१६. दार्शनिक रूप से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि हम स्वतंत्र नहीं हैं। फिर भी, हमारे भीतर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वतंत्र हैं – मुक्त हैं। अब हमें यह समझना है कि यह भाव आता कैसे है। हम देखते हैं कि हममें ये दो प्रेरणाएँ हैं। हमारी बुद्धि बतलाती है कि हमारे प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है, और साथ ही साथ, प्रत्येक मनःस्पन्दन के साथ हम अपने स्वतंत्र स्वभाव की घोषणा भी कर रहे हैं। इस पर वेदान्त का समाधान यह है कि अन्दर तो स्वतंत्रता है – आत्मा वास्तव में मुक्त है – पर इस आत्मा के कार्य शरीर और मन के द्वारा होते हैं, जो स्वतंत्र नहीं हैं। (९/१६८)

१७. सारी प्रकृति नियम से बँधी है, अपनी ही क्रिया के नियम से; और यह नियम कभी भंग नहीं किया जाय सकता। यदि तुम प्रकृति का नियम भंग कर सको, तो एक क्षण में सारी प्रकृति नष्ट हो जाय। फिर प्रकृति ही न रहे। जो मुक्ति पाता है, प्रकृति का नियम तोड़ता है। उसके लिए प्रकृति पीछे हट जाती है और प्रकृति की शक्ति उस पर नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति नियम को भंग करेगा, केवल एक बार और सदा के लिए; और इस प्रकार उसका प्रकृति के साथ संघर्ष समाप्त हो जायगा। (१०/३१)

१८. हिन्दूओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है – सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसके दर्शन कर लेना; और ईश्वर को इसी प्रकार प्राप्त करना, उसके दर्शन कर लेना, उस स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण हो जाना – हिन्दुओं का धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता

है? तब वह असीम परमानन्द का जीवन व्यतीत करता है। जिस एकमात्र वस्तु में मनुष्य को सुख पाना चाहिए, उसे अर्थात् ईश्वर को पाकर वह परम तथा असीम आनंद का उपभोग करता है और ईश्वर के साथ भी परमानन्द का आस्वादन करता है। (१/१५)

१९. हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि हमारा धर्म स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि जो कोई मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा रखे, उसे ही इस ऋषित्व का लाभ करना होगा, मन्त्रद्रष्टा होना होगा, ईश्वर-साक्षात्कार करना होगा। यही मुक्ति हैं और यही हमारे शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त। (५/१७७)

२०. मानसिक और भौतिक सभी विषयों से आत्मा को पृथक् कर लेना ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर आत्मा देखती है कि वह सर्वदा ही एकाकी रही है और उसे सुखी बनाने के लिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं। जब तक अपने को सुखी बनाने के लिए हमें अन्य किसीकी आवश्यकता होती है, तब तक हम दास हैं। जब 'पुरुष' जान लेता है कि वह मुक्त है, उसे अपनी पूर्णता के लिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं, एवं यह प्रकृति नितान्त अनावश्यक है, तब कैवल्य-लाभ हो जाता है। (९/१८३)

२१. वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण-लाभ यहीं और अभी हो सकता है, उसके लिए हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। निर्वाण का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि एक बार भी, वह चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गयी, तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की भ्रांति से विमोहित न हो सकेंगे। हमारे चक्षु हैं, अतः हम प्रतीयमान वस्तु को ही देखते हैं, पर हमने इसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है और हमें सदैव यह ज्ञान रहता है कि वह है क्या; हमने उसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है। यह वह आवरण है, जिसने अपरिणामी आत्मा को ढक रखा है। आवरण खुल जाता है और तब हम इसके पीछे अवस्थित आत्मा को देख पाते हैं। सभी परिवर्तन या परिणाम आवरण में ही होते हैं। साधु पुरुष में यह आवरण इतना महीन होता है

कि उसमें आत्मा की हमें स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है; पर पापी में यह आवरण इतना मोटा होता है कि हम इस सत्य में संशय करने लग जाते हैं कि पापी के पीछे भी वही आत्मा है, जो साधु पुरुष के पीछे विद्यमान है। जब सम्पूर्ण आवरण हट जाता है, तब हम देखने लगते हैं कि वास्तव में आवरण का अस्तित्व किसी काल में नहीं था – हम सदैव आत्मा ही थे, अन्य कुछ भी नहीं; यहाँ तक कि आवरण की बात ही भूल जाती है। (९/७४)

२२. यह बात नहीं है कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना छोड़ दे और निर्जीव मिट्टी का ढेर बन जाय, प्रत्युत् वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कर्मशील होता है, क्योंकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वतंत्र होकर। (९/७५)

२३. अज्ञान ही मृत्यु है, और ज्ञान जीवन। (३/२८)

२४. मुक्ति का अर्थ है, सम्पूर्ण स्वाधीनता – शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा जाना। इसे समझना जरा कठिन है। लोहे की जंजीर भी एक जंजीर है, और सोने की जंजीर भी एक जंजीर ही है। (३/३१)

२५. मन और शब्दों में खूब दृढ़ता लाओ। 'मैं हीन हूँ', 'मैं दीन हूँ' ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है –

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्।।
(अष्टावक्र संहिता।।१।११।।)

जिसके हृदय में मुक्ताभिमान सर्वदा जाग्रत है, वह मुक्त हो जाता है और जो 'मैं बद्ध हूँ' ऐसी भावना रखता है, समझ लो कि उसकी जन्म-जन्मान्तर तक बद्ध दशा ही रहेगी। ऐहिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों में ही इस बात को सत्य जानना। इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। (६/९६)

२६. मुक्ति का अर्थ है सत्य को जानना। हम कुछ नहीं बनते, जो हैं, वही रहेंगे। श्रद्धा से मुक्ति मिलती है, काम करने से नहीं। यहाँ 'ज्ञान' का प्रश्न है। तुमको जानना होगा कि तुम क्या हो, और तब काम समाप्त होगा। (४/१५९)

□□□

२८

ईश्वर

१. हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इन्द्रिय-संवेद्य विषयों के परे और भी कोई सत्ताएँ हैं, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा। वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसीसे उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अत: हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है: 'मैंने आत्मा का दर्शन किया; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।' (१/१४)

२. ईसा मसीह के ये शब्द स्मरण रहें, 'तुम माँगो और वह तुम्हें दिया जायगा; तुम ढूँढ़ो और तुम उसे पाओगे। तुम खटखटाओ और तुम्हारे लिए दरवाजा खुल जायगा।' ये शब्द बिल्कुल सत्य हैं, आलंकारिक या काल्पनिक नहीं हैं। परमेश्वर के एक सबसे महान् पुत्र के हृदय के रक्त में से वे बह निकले थे। वे ऐसे शब्द हैं, जो स्वयं अनुभव करने के बाद निकले हैं। ऐसे व्यक्ति से निकले हैं, जिसने परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, जिसे उसका प्रत्यक्ष स्पर्श हुआ था, जिसने उसके साथ वास किया था, उसके साथ बातचीत की थी और वह भी साधारण रूप से नहीं, बल्कि जैसे हम इस दीवार को देख रहे हैं, उससे भी सैकड़ों गुना अधिक प्रत्यक्ष रूप से। (३/२४९)

३. यदि समानरूपता विश्व का नियम है, तो विश्व का प्रत्येक अंश

उसी योजना के अनुसार बना हुआ होना चाहिए, जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व बना हुआ है। इसलिए हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि विश्व कहे जानेवाले इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे एक सूक्ष्मतर तत्त्वों का विश्व अवश्य होगा, जिसे हम विचार कहते हैं और उसके पीछे एक 'आत्मा' होगी, जो इस समस्त विचार को सम्भव बनाती है, जो आज्ञा देती है और जो इस विश्व की सिंहासनारूढ़ राज्ञी है। वह आत्मा, जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' अथवा व्यक्तिगत आत्मा कही जाती है और जो आत्मा विश्व के पीछे उसकी पथप्रदर्शक, नियन्त्रक और शासक है, वह ईश्वर है। (८/८६)

४. दर्शनशास्त्र का स्थान जो भी हों, तत्त्वज्ञान का स्थान जो भी हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के अंत:करण से दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन बाहर निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी कायम रहेगा। (१/२४)

५. शिशु जन्म ग्रहण करते ही नियम के विरुद्ध विद्रोही हो जाता है। उसकी पहली आवाज रुदन की होती है, जो अपने बंधनों के प्रति उसका विरोध होता है। स्वाधीनता की यह आकांक्षा ही पूर्णत: स्वतंत्र एक सत्ता की भावना को जन्म देती है। ईश्वर की धारणा मनुष्य की प्रकृति का एक मूल उपादान है। वेदान्त के अनुसार मानव मन की सर्वोच्च ईश्वर-धारणा सच्चिदानन्द है। (२/२९३)

६. 'जहाँ से सब प्रकट हुए हैं, जो सबका अधिष्ठान है और जिसमें सब विलीन होंगे, वही ईश्वर है।' (३/११०)

७. समग्र प्रकृति ईश्वर की उपासना है। जहाँ कहीं भी जीवन है, वहीं मुक्ति का अनुसन्धान है और वह मुक्ति ही ईश्वरस्वरूप है। (२/२९६)

८. हम लोग संसार के बीच इस प्रकार भागे चले जा रहे हैं मानो हमें कोई सिपाही पकड़ने आ रहा हो – इसीलिए हमें जगत् के सौन्दर्य का लेश मात्र ही आभास मिलता है। हमें यह जो इतना भय हो रहा है उसका कारण है जड़ को सत्य समझकर उसमें विश्वास करना। जड़ की जो कुछ तथाकथित सत्ता प्रतीत हो रही है, वह हमारे मन के ही कारण है। हम जो कुछ देख रहे हैं, वह प्रकृति के बीच से अपने को अभिव्यक्त कर रहा ईश्वर ही है। (७/१०-११)

९. ईश्वर स्थिर है, महिमामय अपने अपरिणामी स्वरूप पर प्रतिष्ठित है। तुम और हम उसके साथ एक होने की चेष्टा करते हैं, किन्तु इधर बन्धन की कारणीभूत प्रकृति पर, दैनन्दिन जीवन की छोटी छोटी बातें, धन, नाम, यश, मानवप्रेम प्रभृति प्राकृतिक विषयों पर निर्भर होते हैं। (२/२९६)

१०. यह जो समग्र प्रकृति प्रकाश पा रही है, उसका प्रकाश किस पर निर्भर है? ईश्वर पर, सूर्य, चन्द्र, तारों पर नहीं। जहाँ कहीं कुछ प्रकाशित होता है, चाहे वह सूर्य का प्रकाश हो या हमारी चेतना का, वहाँ उसी का प्रकाश होता है; उसके प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित होता है। (२/२९६)

११. "मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं। जो जीवों पर दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।" (६/२१६)

१२. छोटे-बड़े सभी जीव ईश्वर की समान रूप से अभिव्यक्तियाँ हैं, अन्तर केवल अभिव्यक्तियों में है। (९/१०१)

१३. चराचर विश्व की समष्टि ईश्वर ही है। तो क्या ईश्वर जड़ है? नहीं, कदापि नहीं। जड़ वह ईश्वर है, जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है; बुद्धि के माध्यम से जाना हुआ ईश्वर मन है; और जब आत्मा उसे प्रत्यक्ष करती है, तो वह आत्मा के रूप में ही दृष्ट होता है। वह जड़ नहीं, अपितु जड़ में निहित यथार्थ सार-तत्त्व है। (२/२८५)

१४. हमारे शास्त्रों में परमात्मा के दो रूप कहे गये हैं – सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर के अर्थ से वह सर्वव्यापी है, संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है, संसार का अनादि जनक तथा जननी है, उसके साथ हमारा नित्य भेद है और मुक्ति का अर्थ – उसके सामीप्य और सालोक्य

की प्राप्ति है। सगुण ब्रह्म के ये सब विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अतार्किक मानकर त्याग दिये गये हैं। वह निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान् नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान मानवमन का धर्म है। वह चिन्तनशील नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिन्तन ससीम जीवों के ज्ञानलाभ का उपाय मात्र है। वह विचारपरायण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विचार भी ससीम है और दुर्बलता का चिह्न मात्र है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जो बन्धन में है वही सृष्टि की ओर प्रवृत्त होता है। उसका बन्धन ही क्या हो सकता है? कोई बिना प्रयोजन के कोई काम नहीं कर सकता, उसे फिर प्रयोजन क्या है? कामना पूर्ति के लिए ही सब काम करते हैं। उन्हें क्या कामना है? वेदों में उसके लिए 'सः' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया; 'सः' शब्द द्वारा निर्देश न करके निर्गुण भाव समझाने के लिए 'तत्' शब्द द्वारा उसका निर्देश किया गया है। 'सः' शब्द के कहे जाने से वह व्यक्तिविशेष हो जाता, इससे जीव-जगत् के साथ उसका सम्पूर्ण पार्थक्य सूचित हो जाता है। (५/२७-२८)

१५. सगुण ईश्वर स्वयं अपने लिए उतना ही सत्य है, जितना हम अपने लिए, इससे अधिक नहीं। ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है, जैसे हमें देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर का प्रयोजन है; हम जब स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जायँगे तब फिर हमें ईश्वर का प्रयोजन नहीं रह जायगा। इसीलिए श्रीरामकृष्ण उस जगज्जननी को अपने समीप सदा सर्वदा वर्तमान देखते थे – वे अपने आस-पास की अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक सत्य रूप में देखते थे; किन्तु समाधि-अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। सगुण ईश्वर क्रमशः हमारी ओर अधिकाधिक आताजाता है, अन्त में वह मानो गल जाता है, उस समय न 'ईश्वर' रह जाता है, न 'अहं'। सब उसी आत्मा में लय हो जाता है। (७/७०)

१६. तुम्हें निर्गुणवाद भी समझना होगा, क्योंकि इस निर्गुणवाद के आलोक में ही अन्य सिद्धांतों को समझा जा सकता है। सगुणवाद को ही

उदाहरणस्वरूप लो। जॉन स्टुअर्ट मिल ईश्वर का निर्गुणवाद समझते हैं और उसमें विश्वास भी करते हैं – वे कहते हैं, सगुण ईश्वर को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, वह असंभव है। मैं इस विषय में उनके साथ एकमत हूँ; फिर भी, मैं कहता हूँ कि मनुष्य-बुद्धि से निर्गुण की जितनी दूर तक धारणा की जा सके, वही सगुण ईश्वर है। और वास्तव में निर्गुण की इन विभिन्न धारणाओं के सिवा यह जगत् है ही क्या? वह मानो हम लोगों के सामने एक खुली पुस्तक है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उसका पाठ कर रहा है और प्रत्येक को स्वयं ही उसका पाठ करना पड़ता है। (८/४५)

१७. सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर हाँ, ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम एवं उपासना के योग्य नहीं। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। (४/९)

१८. जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे में से देखते हैं, तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जब हम उसे पंचेन्द्रियों द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं, तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा का विषयीकरण (objectification) नहीं हो सकता – आत्मा को दृश्यमान वस्तु नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय कैसे हो सकता है? परन्तु उसका मानो प्रतिबिम्ब पड़ सकता है – चाहो तो, इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास – यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। (३/२५८-५९)

१९. आत्मा सनातन ज्ञाता है, और हम उसे ज्ञेय रूप में ढालने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं। इसी संघर्ष से इस जगत्-प्रपंच की सृष्टि हुई है, इसी प्रयत्न से जड़ पदार्थ आदि की उत्पत्ति हुई है। पर ये सब आत्मा के निम्नतम रूप हैं, और आत्मा का हमारे लिये सम्भव सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो वह है, जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं। विषयीकरण का यह प्रयास हमारे स्वयं

अपने स्वरूप के प्रकटीकरण का प्रयास है। (३/२५९)

२०. मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है। (३/११९)

२१. आजकल संसार ईश्वर को छोड़ रहा है, क्योंकि वह संसार के लिए पर्याप्त कुछ कर नहीं रहा है। अत: वे कहते हैं – "उससे हमें क्या लाभ है?" क्या हमें ईश्वर का 'चिन्तन' केवल एक नगरपालिका के अधिकारी के रूप में करना होगा? (७/२६)

२२. ये सब प्रतीक और विधियाँ, ये प्रार्थनाएँ और ये तीर्थयात्राएँ, ये ग्रंथ, घंटियाँ, मोमबत्तियाँ और पुरोहित – ये सब पूर्व तैयारियाँ मात्र हैं। इनसे मन का मैल दूर हो जाता है। और जब जीव शुद्ध हो जाता है, तो स्वभावत: ही वह पवित्रतास्वरूप परमात्मा की ओर जाना चाहता है। (३/२५१)

२३. हम लोग बराबर सुनते आ रहे हैं कि प्रत्येक धर्म विश्वास करने पर बल देता है। हमने आँखें बंद करके विश्वास करने की शिक्षा पायी है। यह अन्धविश्वास सचमुच ही बुरी वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यदि इस अन्धविश्वास का हम विश्लेषण करके देखें, तो ज्ञात होगा कि इसके पीछे एक महान् सत्य है। उसका वास्तविक अर्थ क्या है, उसीके विषय में हम इस समय पढ़ रहे हैं। मन को व्यर्थ ही तर्क के द्वारा चंचल करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तर्क से कभी ईश्वर की प्राप्ति नही हो सकती। यह प्रत्यक्ष का विषय है, तर्क का नहीं। (२/१६५-६६)

२४. मुझसे अनेक बार पूछा गया है, "आप क्यों इस पुराने 'ईश्वर' (god) शब्द का व्यवहार करते हैं?" तो इसका उत्तर यह है कि हमारे उद्देश्य के लिए यही सर्वोत्तम है। इससे अच्छा और कोई शब्द नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की सारी आशाएँ और सुख इसी एक शब्द में केन्द्रित हैं। अब इस शब्द को बदलना असम्भव है। इस प्रकार के शब्द पहले-पहल बड़े बड़े साधु-महात्माओं द्वारा गढ़े गये थे और वे इन शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह समझते थे। धीरे धीरे जब समाज में उन शब्दों का प्रचार होने लगा, तब अज्ञ लोग भी उन शब्दों का व्यवहार करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्दों की महिमा घटने लगी। स्मरणातीत काल से 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार होता आया है। सर्वव्यापी बुद्धि का भाव तथा जो कुछ महान् और पवित्र है, सब इसी शब्द में निहित है। (२/१०६)

२५. यह प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, घोर अत्याचार और दिन रात की आह, जिसे सुनकर कलेजा फट जाता है – यही हमारे संसार का हाल है। यदि यही ईश्वर की सृष्टि हुई तो वह ईश्वर निष्ठुर से भी बदतर है, उस शैतान से भी गया-गुजरा है जिसकी मनुष्य ने कभी कल्पना की हो। वेदान्त कहता है कि यह ईश्वर का दोष नहीं है जो जगत् में यह पक्षपात, यह प्रतिद्वन्द्विता वर्तमान है। तो किसने इसकी सृष्टि की? स्वयं हमीं ने। एक बादल सभी खेतों पर समान रूप से पानी बरसाता रहता है। पर जो खेत अच्छी तरह जोता हुआ है वही इस वर्षा से लाभ उठाता है। एक दूसरा खेत जो जोता नहीं गया, या जिसकी देखरेख नहीं की गयी उससे लाभ नहीं उठा सकता। यह बादल का दोष नहीं। ईश्वर की कृपा नित्य और अपरिवर्तनीय है; हमीं लोग वैषम्य के कारण हैं। लेकिन कोई जन्म से ही सुखी है और दुसरा दुखी, इस वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? वे तो ऐसा कुछ नहीं करते जिससे यह वैषम्य उत्पन्न हो। उत्तर यह है कि इस जन्म में न सही, पूर्व जन्म में उन्होंने अवश्य किया होगा, और यह वैषम्य पूर्व जन्म के कर्मों ही के कारण हुआ है। (५/२३-२४)

२६. प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी हो या अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष हो अथवा स्त्री, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, प्रत्येक दशा में मनुष्य मात्र का परमोच्च आदर्श ही ईश्वर है। सौन्दर्य, उदात्तता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिलता है।

स्वभावत: ही ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन

में वर्तमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अंग या अंशविशेष हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवीय प्रकृति की नानाविध क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्न जीवात्माओं में जो विविध आदर्श निहित हैं, वे बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने की सतत चेष्टा कर रहे हैं। (४/६४)

२७. हमारे पास तीन वरदान हैं – प्रथम, मनुष्य देह (मनुष्य का मन ही ईश्वर का निकटतम प्रतिबिंब है, हम 'उसकी ही प्रतिमा हैं।') द्वितीय, मुक्त होने के लिए आकांक्षा। तृतीय, गुरु के रूप में एक ऐसे महात्मा की सहायता प्राप्त करना, जो स्वयं इस मोहसागर को पार कर चुका हो। इन तीनों की यदि प्राप्ति हो जाय तो भगवान् को धन्यवाद, तुम अवश्यमेव मुक्त होओगे। (७/९१)

२८. केवल ईश्वर ही सत्य है। अन्य सब कुछ असत्य है। ईश्वर के लिए सभी वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए। सब कुछ असार है, असारों का भी असार। केवल ईश्वर और ईश्वर की ही सेवा करो। (९/६०)

२९. शक्तिशाली बनो, उठो और प्रेमरूपी ईश्वर की खोज करो। यही सर्वोच्च बल है। पवित्रता की शक्ति से बढ़कर और कौन सी शक्ति श्रेष्ठ हो सकती है? प्रेम और पवित्रता ही दुनिया के शासक हैं। ईश्वर का यह प्रेम बलहीनों द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है। अत: दुर्बल मत बनो – शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक किसी प्रकार से। (९/६०)

३०. सारा संसार ही प्रतीक है और उसके पीछे मूल तत्त्वरूप में ईश्वर विराजमान है। (३/४७)

३१. आज के पर्वत कल समुद्र थे, और कल वहाँ पुन: समुद्र दिखलायी देगा। प्रत्येक वस्तु क्रमपरिवर्तनशील है; यह सारा विश्व ही परिवर्तनशीलता का एक पिण्ड है। एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है, जिसमें परिवर्तन कभी नहीं होता। (३/१०६)

३२. ईश्वर अनन्तीकृत मानव है। ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, हमें मानवीकृत ईश्वर चाहिए। (३/२६६)

३३. ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। स्वयं का अनुभव ही हमें इन बातों की सत्यता सिद्ध करा सकता है – तर्क - वितर्क अथवा अन्य कोई चीज नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे विश्वास को पर्वत के समान दृढ़ बना सकता है। (७/२४८)

३४. सत्य का स्वरूप ही ऐसा है कि जो कोई उसे देख लेता है, उसे एकदम पूरा विश्वास हो जाता है। सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मशाल की जरूरत नहीं होती। वह तो स्वयं ही प्रकाशमान है। (३/१०९)

३५. परमेश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? – साक्षात्कार। प्रत्यक्ष। इस दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण यह है कि मैं इसे देखता हूँ। आज से पहले हजारों ने ईश्वर को इस तरह देखा है और आगे भी, जो चाहेंगे, उसे देख सकेंगे। पर यह प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियो द्वारा होनेवाले अनुभव के सदृश बिल्कुल नहीं है। वह इन्द्रियातीत है, वह चेतनातीत है। (३/१०९)

३६. यह विश्वव्यापी बुद्धि ही ईश्वर है। लोग उसी विश्वव्यापी चैतन्य को प्रभु, भगवान्, ईसा, बुद्ध या ब्रह्म कहते हैं – जड़वादी उसीकी शक्ति के रूप में उपलब्धि करते हैं एवं अज्ञेयवादी उसीकी उस अनन्त अनिर्वचनीय सर्वातीत पदार्थ के रूप में धारणा करते हैं और हम सब उसी के अंश हैं। (२/१२६)

□□□

२९

अवतार

१. साधारण गुरुओं से श्रेष्ठ एक और श्रेणी के गुरु होते हैं, और वे हैं – इस संसार में ईश्वर के अवतार। वे केवल स्पर्श से, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। उनकी इच्छा से पतित से पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है। वे गुरुओं के भी गुरु हैं – मनुष्य के माध्यम से ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। उनके माध्यम के अतिरिक्त हम अन्य किसी भी उपाय से भगवान् को नहीं देख सकते। हम उनकी उपासना किये बिना रह नहीं सकते, वास्तव में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जिनकी उपासना करने के लिए हम विवश हैं। (४/२५)

२. ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है और मानवता के कल्याण के लिए नरदेह धारण करता है। श्रीकृष्ण ने अवतार के सम्बन्ध में गीता में कहा है, "जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म-संस्थापनार्थ मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूँ।"[१] "मूर्ख लोग मुझ जगदीश्वर के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण मुझ नरदेहधारी की अवहेलना करते हैं।"[२] भगवान् श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जब एक बहुत विशाल लहर आती है, तो छोटे छोटे नाले और गड्ढे अपने आप ही लबालब भर जाते हैं। इसी प्रकार जब एक अवतार जन्म लेता है, तो समस्त संसार में आध्यात्मिकता की एक बड़ी बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण

१. गीता ४/७-८ २. गीता ९/११

कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं।" (४/२७-२८)

३. अनन्त घटना-प्रवाह में अनिवार्यतया अविराम रूप से अग्रसर होनेवाली, स्थिर रहने में असमर्थ, छोटी छोटी उर्मियों के अतिरिक्त हम और क्या हैं? किन्तु मैं और तुम केवल क्षुद्र वस्तुएँ, बुलबुले मात्र हैं। विश्व-व्यापार के महासागर में कुछ विशाल तरंगें रहती ही हैं। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनों में जाति के अतीत जीवन का अत्यल्प अंश ही व्यक्त होता है। किन्तु ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते हैं, जो प्रायः सम्पूर्ण अतीत के साकार रूप होते हैं, और जो मानो अपनी दीर्घ प्रसारित बाहुओं से सुदूर भविष्य की सीमाओं को भी स्पर्श करते रहते हैं। ये महापुरुष मानव जाति के उन्नति-पथ पर यत्र-तत्र स्थापित मार्ग-दर्शक स्तम्भों के समान हैं। वे सचमुच इतने महान् हैं कि उनकी छाया मानो समस्त पृथ्वी को आच्छन्न कर लेती है; वे अमर, अनन्त और अविनाशी हैं। (७/२१६)

४. इसी महापुरुष ने कहा है, 'किसी भी व्यक्ति ने ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है।' और यह कथन अक्षरशः सत्य है। ईश्वर-पुत्र के अतिरिक्त हम ईश्वर को और कहाँ देखेंगे? यह सच है कि मुझमें और तुममें, हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है, उसका प्रतिबिम्ब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, किन्तु उसे देखने के लिए दीप जलाने की आवश्यकता होती है। जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक ये महान् शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते। (७/२१६)

५. व्यक्ति विशेष ईश्वर की भी आवश्यकता है; और हम जानते हैं कि किसी व्यक्तिविशेष ईश्वर की वृथा कल्पना से बढ़कर जीवित ईश्वर इस लोक में समय समय पर उत्पन्न होकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं; जब कि काल्पनिक व्यक्तिविशेष ईश्वर तो सौ में निन्यानवे प्रतिशत उपासना के अयोग्य ही होते हैं। किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, अपनी

काल्पनिक रचना की अपेक्षा, अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी जो भी धारणा हम बना सकते हैं, उसकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जो भी धारणा रख सकते हैं, उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं, जीवित आदर्श हैं। इसीलिए सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं।

हमारे ऋषि यह जानते थे, इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों की, इन अवतारों की, पूजा करने का मार्ग खोला है। (५/१४६)

६. यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (गीता १०/४१)

– 'मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो, वहाँ मैं वर्तमान हूँ; मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।'

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिरजों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है। (५/१४६)

७. अत: ईश्वर की मनुष्य के रूप में उपासना करना अनिवार्य है और जिन जातियों के पास ऐसे उपास्य 'देव-मानव' हैं, वे धन्य हैं। ईसाइयों में ईसा मसीह के रूप में ऐसे मानवरूपधारी ईश्वर हैं। अत: उन्हें ईसा के प्रति दृढ़ आसक्ति रखनी चाहिए और उन्हें ईसा को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। मनुष्य में ईश्वर के दर्शन करना यही ईश्वर-दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विचार वहीं एकाग्र हो सकते हैं। (९/३१-३२)

८. हम सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं, सूक्ष्म तत्त्वों और उपपत्तियों पर विचार-विमर्श करते हैं। यह ठीक है, किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्त्व को केवल तभी समझ पाते हैं,

जब किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से वह हमें प्राप्त होता है। किसी सूक्ष्म तत्त्व की धारणा में हम तभी समर्थ होते हैं, जब वह किसी पुरुषविशेष के रूप में साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदेशों को समझ पाते हैं। काश! ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमें तत्त्वविशेष की धारणा करने में दृष्टान्तों एवं आदर्श पुरुषों के माध्यम की आवश्यकता न पड़ती! किन्तु हम उतने उन्नत नहीं हैं; और इसलिए स्वभावत: अधिकांश मनुष्यों ने इन असाधारण व्यक्तियों – ईसाइयों, बौद्धों और हिन्दुओं द्वारा पूजित इन पैगम्बरों और अवतारों – को आत्मसमर्पण कर दिया है। (७/१७८)

९. निर्गुण परब्रह्म की उपासना नहीं की जा सकती, इसलिए हमें अपने ही सदृश प्रकृति-सम्पन्न उनके प्रकाश विशेष की उपासना करनी होगी। ईसा हम लोगों के समान मनुष्य प्रकृति सम्पन्न थे – वे ख्रिस्त हो गये थे। हम भी उनके समान ख्रिस्त हो सकते हैं और हमें वह होना ही होगा। ख्रिस्त और बुद्ध अवस्था विशेष का नाम है – जो हमें प्राप्त करनी होगी। ईसा और गौतम वे व्यक्ति हैं जिनमें यह अवस्था व्यक्त हुई। (७/३९)

१०. विभिन्न देशीय, विभिन्न जातीय और विभिन्न मतावलम्बी, भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं, जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं। विभिन्न जातियों, देशों और धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारीगण मानव जाति के कल्याण में रत हैं, उन सबको प्रणाम है। जीवन्त ईश्वरस्वरूप जो महापुरुष भविष्य में हमारी सन्तान के लिए नि:स्पृहता से कार्य करने के लिए अवतार धारण करेंगे, उन सबको प्रणाम है। (७/२३०)

□□□

३०

गुरु या आध्यात्मिक मार्गदर्शक

१. इस शक्ति की प्राप्ति तो एक आत्मा एक दूसरी आत्मा से ही कर सकती है – अन्य किसीसे नहीं। हम भले ही सारा जीवन पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक हो जायँ, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी तनिक भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है। यह बात सत्य नहीं कि उच्च स्तर के बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की भी उतनी ही उन्नति होगी।

यद्यपि लगभग हम सब आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, पर जब उन बातों को कार्यरूप में परिणत करने का – यथार्थ आध्यात्मिक जीवन बिताने का अवसर आता है, तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचारित होती है, उसे शिष्य कहते हैं।

'यथार्थ धर्म-गुरू में अपूर्व योग्यता होनी चाहिए, और उसके शिष्य को भी कुशल होना चाहिए।' जब दोनों ही अद्भुत और असाधारण होते हैं, तभी अद्भुत आध्यात्मिक जागृति होती है, अन्यथा नहीं। (४/१७-१८)

२. तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनाः अहेतुनान्यानपि तारयन्तः। – 'वे भीषण भवसागर के उस पार स्वयं भी चले गये हैं और बिना किसी

लाभ की आशा किये दूसरों को भी पार करते हैं!' ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं, और ध्यान रखो दूसरा कोई गुरु नहीं कहा जा सकता। (५/२३७)

३. प्रकृति का यह एक रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलता है। ज्योंही आत्मा को धर्म की आवश्यकता होती है, त्योंही धार्मिक शक्ति का देनेवाला कोई न कोई आना ही चाहिए। 'खोज करनेवाले पापी की भेंट खोज करनेवाले उद्धारक से हो ही जाती है।' जब ग्रहण करनेवाली आत्मा की आकर्षण-शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देनेवाली शक्ति आनी ही चाहिए। (९/२३)

४. सच्चे गुरु वे ही हैं, जिनके द्वारा हमको अपना आध्यात्मिक जन्म प्राप्त हुआ है। वे ही वह साधन हैं, जिसमें से होकर आध्यात्मिक प्रवाह हम लोगों में प्रवाहित होता है। वे ही समग्र आध्यात्मिक जगत् के साथ हम लोगों के संयोग-सूत्र हैं। व्यक्तिविशेष के ऊपर अतिरिक्त विश्वास करने से दुर्बलता और अन्तःसारशून्य बहिःपूजा आ सकती है, किन्तु गुरु के प्रति प्रबल अनुराग से उन्नति अत्यन्त शीघ्र सम्भव है। वे हमारे अन्तःस्थित गुरु के साथ हमारा संयोग करा देते हैं। यदि तुम्हारे गुरु के भीतर यथार्थ सत्य है तो उनकी आराधना करो, यही गुरुभक्ति तुम्हें शीघ्र ही चरम अवस्था में पहुँचा देगी। (७/१००)

५. यदि किसी एक भी जीव में ब्रह्म का विकास हो गया तो, सहस्रों मनुष्य उसी ज्योति के मार्ग से आगे बढ़ते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुष ही लोक-गुरु बन सकते हैं; यह बात शास्त्र और युक्ति दोनों से प्रमाणित होती है। स्वार्थयुक्त ब्राह्मणों ने जिस कुलगुरु-प्रथा का प्रचार किया, वह वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है। इसीलिए साधना करने पर भी लोग अब सिद्ध या ब्रह्मज्ञ नहीं होते। (६/२२-२३)

६. फिर, शक्तिसंचारक गुरु के सम्बन्ध में तो और भी बड़े खतरों की सम्भावना है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो स्वयं तो बड़े अज्ञानी हैं, परन्तु फि भी अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं; इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी अपने कंधों पर ले जाने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे

का अगुआ बन जाता है, फलतः दोनों ही गड्ढे में गिर पड़ते हैं।

संसार ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। हर एक आदमी गुरु होना चाहता है। एक भिखारी भी चाहता है कि वह लाखों का दान कर डाले! जैसे हास्यास्पद ये भिखारी हैं, वैसे ही ये गुरु भी! (४/१९)

७. आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है। किंतु पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में – हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। (९/२८-२९)

८. भगवान की कृपा अथवा उनकी योग्यतम सन्तान महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर लो। ये ही दो भगवत्प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संग-लाभ होना बहुत ही कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक ठीक संग-लाभ हो जाय तो सारा जीवन ही बदल जाता है। यदि तुम इन महापुरुषों की संगति के सचमुच इच्छुक हो तो तुम्हें किसी न किसी महापुरुष का संगलाभ अवश्य होगा। ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, 'प्रभु की सन्तानों का ऐसा ही महात्म्य है।' वे स्वयं प्रभु हैं, वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देहनिःसृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है; जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उसी स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र बनने की प्रवृत्ति जग उठती है। (७/१६)

□□□

३१

विश्वास

१. मैं यह कर सकता हूँ, यह नहीं कर सकता, ये सब भी कुसंस्कार हैं। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं। (८/६)

२. आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दुःख और अशुभ है, उसका अधिकांश गायब हो जाता। मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। (८/१२)

३. मनुष्य कितनी ही अवनति की अवस्था में क्यों न पहुँच जाय, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह उससे बेहद आर्त होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और अपने में विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्मविश्वास सीखने के लिए इतने कटु अनुभव क्यों प्राप्त करें? (८/१२)

४. मनुष्य मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है, यह सरलता से ही समझ में आ सकता है। इस आत्मविश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने जीवन में ही इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूँ, और जैसे जैसे आयु बढ़ती जा रही है, उतना ही यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं है, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता, वही नास्तिक है। किन्तु यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। (८/१२)

५. यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा। यही मेरा विश्वास है। वही सर्व श्रेष्ठ मनुष्य है, जो सचाई के साथ कह सकता है, "मैं अपने सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूँ।" क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी इस देह के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ, कितने प्रकार के बल अब भी छिपे पड़े हैं? मनुष्य में जो है, उस सबका ज्ञान कौन सा वैज्ञानिक प्राप्त कर सकता है? लाखों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर है, किन्तु अभी तक उसकी शक्ति का पारमाणविक अंश मात्र ही प्रकाशित हुआ है। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्बल कहते हो? ऊपर से दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावना है, क्या तुम यह जानते हो? तुम्हारे अन्दर जो है, उसका थोड़ा सा तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे है शक्ति और आनन्द का अपार सागर। (८/१३)

६. श्रद्धा श्रद्धा! अपने आप पर श्रद्धा, परमात्मा में श्रद्धा – यही महानता का एकमात्र रहस्य है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर, और विदेशियों ने बीच बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है उन सब पर भी, यदि तुम्हारी श्रद्धा हो, और अपने आप पर श्रद्धा न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो! इसी आत्मश्रद्धा के बल से अपने पैरों आप खड़े होओ, और शक्तिशाली बनो। इस समय हमें इसीकी आवश्यकता है। (५/८६)

७. हमने अपनी आत्मश्रद्धा खो दी है। इसीलिए वेदान्त के अद्वैतवाद के भावों का प्रचार करने की आवश्यकता है, ताकि लोगों के हृदय जाग जायँ, और वे अपनी आत्मा की महत्ता समझ सकें। इसीलिए मैं अद्वैतवाद का प्रचार करता हूँ। और इसका प्रचार किसी साम्प्रदायिक भाव से प्रेरित होकर नहीं करता, बल्कि मैं सार्वभौम, युक्तिपूर्ण और अकाट्य सिद्धान्तों के आधार पर इसका प्रचार करता हूँ। (५/८७)

८. द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी हो, सभी को यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा में सम्पूर्ण शक्ति अवस्थित है; केवल उसे व्यक्त करना होता है। इसके लिए हमें श्रद्धा की ही जरूरत है; हमें, यहाँ जितने भी मनुष्य हैं, सभी को इसकी आवश्यकता है। इसी श्रद्धा को प्राप्त करने का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे जातीय खून में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना, गाम्भीर्य का अभाव, इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर बनो, श्रद्धा सम्पन्न होओ, और सब कुछ तो इसके बाद आ ही जायगा। (५/२१३)

९. किसी बात से मत डरो। तुम अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम डर जाओगे, उसी क्षण तुम बिल्कुल शक्तिहीन हो जाओगे। संसार में दुःख का मुख्य कारण भय ही है, यही सबसे बड़ा कुसंस्कार है, यह भय हमारे दुःखों का कारण है, और यह निर्भीकता है जिससे क्षण भर में स्वर्ग प्राप्त होता है। अतएव, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।** (५/२१४)

१०. दिन-रात अपने को दीन, नीच एवं 'कुछ नहीं' समझता है तो वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है। यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है' तो तुममें शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि 'मैं 'कुछ नहीं हूँ,' दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। तुम्हें यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उसी सर्व शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते

हैं, और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा। (५/२६७)

११. हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था। इसी आत्मविश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढ़ी पर चढ़ाया था। और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हममें दोष आया हो तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गयी। (५/२६७)

१२. आत्मविश्वासहीनता का मतलब है ईश्वर में अविश्वास। क्या तुम्हें विश्वास है कि वही अनन्त मंगलमय विधाता तुम्हारे भीतर से काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में – तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में ओत-प्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वंचित रह सकते हो? (५/२६७)

□□□

३२

भक्ति या ईश्वर प्रेम

१. सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं। इस खोज का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रेम में होता है। ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मत्तता का एक क्षण भी हमारे लिए शाश्वत मुक्ति देनेवाला होता है। (४/४)

२. "भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है।" "जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है, तो सभी उसके प्रेम-पात्र बन जाते हैं। वह किसीसे घृणा नहीं करता; वह सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है।" "इस प्रेम से किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक सांसारिक वासनाएँ घर किये रहती हैं, तब तक इस प्रेम का उदय नहीं होता।" (४/४)

३. "भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और योग से भी उच्च है," क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य है ही, पर "भक्ति स्वयं ही अपना फलस्वरूप तथा साध्य और साधनस्वरूप है।" (४/४)

४. भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे महान् दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। पर साथ ही उससे एक विशेष आशंका यह है कि वह अपनी निम्न अवस्था में मनुष्य को बहुधा भयानक मतान्ध और कट्टर बना देता है। हिन्दू, इस्लाम या ईसाई धर्म में जहाँ कहीं इस प्रकार के धर्मान्ध व्यक्तियों का दल है, वह सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा गठित हुआ है। (४/५)

५. भक्ति के किसी पात्र के प्रति अनन्य निष्ठा, जिसके बिना यथार्थ

प्रेम का विकास सम्भव नहीं, अक्सर अन्य सब की भर्त्सना का कारण बन जाती है। प्रत्येक धर्म और देश के सभी दुर्बल और अविकसित बुद्धिवाले मनुष्य अपने आदर्श से प्रेम करने का एक ही उपाय जानते हैं और वह है – अन्य सभी आदर्शों से घृणा करना। यहीं इस बात का उत्तर मिलता है कि वही मनुष्य, जो ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्श के प्रति इतना अनुरक्त है, किसी दूसरे आदर्श को देखते ही या उस सम्बन्ध में कोई बात सुनते ही इतना खूँख्वार क्यों हो उठता है। (४/५)

६. जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसे वही सबसे उपयोगी जान पड़ती है। अत: उन लोगों के लिए, जो खाने-पीने, वंश-वृद्धि करने और फिर मर जाने के सिवा और कुछ नहीं जानते, इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य वस्तु है! ऐसे लोगों के हृदय में उच्चतर विषय के लिए थोड़ी सी भी स्पृहा जगने के लिए अनेक जन्म लग जायेंगे। पर जिनके लिए आत्मोन्नति के साधन ऐहिक जीवन के क्षणिक सुख-भोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की तुष्टि केवल एक नासमझ बच्चे के खिलवाड़ के समान है, उनके लिए भगवान् और भगवत्प्रेम ही मानव जीवन का सर्वोच्च एवं एकमात्र प्रयोजन है। (४/१४)

७. भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है – केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण सा पड़ा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी। (१०/३७१)

८. भक्ति प्राप्त करने का एक उपाय है, ईश्वर का बारम्बार नाम-जप। मंत्रों का – केवल शब्दोच्चारण का प्रभाव होता है।

भक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसे पवित्र मनुष्यों की संगति खोजो, जिनमें भक्ति हो और गीता तथा 'ईसानुसरण' जैसी पुस्तकें पढ़ो। सदैव ईश्वर के गुणों के विषय में विचार करो। (१/३०४)

९. ईश्वर के सम्बन्ध में केवल नानाविध मत-मतान्तरों की आलोचना करने से काम नहीं चलेगा। ईश्वर से प्रेम करना होगा और साधना करनी होगी। संसार और सांसारिक विषयों का त्याग विशेषत: तब करो जब 'पौधा'

सुकुमार रहता है। दिन-रात ईश्वर का चिन्तन करो; जहाँ तक हो सके दूसरे विषयों का चिन्तन छोड़ दो। सभी आवश्यक दैनंदिन विचारों का चिन्तन ईश्वर के माध्यम से किया जा सकता है। ईश्वर को अर्पित करके खाओ, उसको अर्पित करके पिओ, उसको अर्पित करके सोओ, सबमें उसीको देखो। दूसरों से उसकी चर्चा करो; यह सबसे अधिक उपयोगी है। (७/१५)

१०. भगवान् की कृपा अथवा उनकी योग्यतम सन्तान महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर लो। ये ही दो भगवत्प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संग-लाभ होना बहुत ही कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक ठीक संग-लाभ हो जाय तो सारा जीवन ही बदल जाता है। यदि तुम इन महापुरुषों की संगति के सचमुच इच्छुक हो तो तुम्हें किसी न किसी महापुरुष का संगलाभ अवश्य होगा। ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, 'प्रभु की सन्तानों का ऐसा ही माहात्म्य है।' वे स्वयं प्रभु हैं, वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देहनि:सृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है; जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उस स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र बनने की प्रवृत्ति जग उठती है। (७/१६)

११. भक्तियोग कुछ छोड़ने-छाड़ने की शिक्षा नहीं देता; वह केवल कहता है, "परमेश्वर में आसक्त होओ।" और जो परमेश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो गया है, उसकी, स्वभावत: निम्न विषयों में कोई प्रवृत्ति नहीं रह सकती। (४/४८)

१२. भक्तियोग में प्रथम विशेष प्रयोजन है, निष्कपट और प्रबल भाव से ईश्वर को चाहना। हम ईश्वर को छोड़कर और सभी कुछ चाहते हैं; क्योंकि बहिर्जगत् से हमारी सभी वासनाएँ पूर्ण होती हैं। जब तक हमारी आवश्यकताएँ जड़ जगत् के भीतर ही सीमाबद्ध हैं, तब तक हम ईश्वर के अभाव का बोध नहीं कर पाते; किन्तु जब हम पर इस जीवन में चारों ओर से प्रबल आघात पड़ते हैं और इस जगत् के सभी विषयों से जब हम निराश हो जाते हैं,

तभी किसी उच्चतर वस्तु की हमें आवश्यकता प्रतीत होती है, तभी हम ईश्वर का अन्वेषण करते हैं। (७/९८)

१३. भक्ति विध्वंसात्मक नहीं है, वरन् भक्तियोग की शिक्षा यह है कि हमारी सभी क्षमताएँ मुक्ति-लाभ करने का उपायस्वरूप हो सकती हैं। इन सभी वृत्तियों को ईश्वराभिमुख करना होगा – साधारणत: जो प्रेम अनित्य इन्द्रिय-विषयों में नष्ट किया जाता है, वही ईश्वर को समर्पित करना होगा। (७/९८)

१४. तुम्हारी पाश्चात्य धर्म की धारणा से भक्ति में अन्तर इतना ही है कि भक्ति में भय का कोई स्थान नहीं है – भक्ति के द्वारा किसी पुरुष का क्रोध शान्त करने या किसीको संतुष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती। इतना ही नहीं, ऐसे भी भक्त हैं, जो ईश्वर की उपासना पुत्र भाव से करते हैं – इस प्रकार की उपासना का उद्देश्य यही है कि ऐसी उपासना में भय या भयमिश्र भक्ति का कोई भाव नहीं रहता। प्रकृत प्रेम में भय नहीं रह सकता, और जब तक थोड़ा सा भी भय रहेगा, तब तक भक्ति का आरम्भ ही नहीं हो सकता, एवं भक्ति में भगवान् से भिक्षा माँगने का भाव अथवा उनके साथ क्रय-विक्रय करने का भाव नहीं रहता। भगवान् के पास किसी वस्तु के लिए प्रार्थना भक्त की दृष्टि में महान् अपराध है। भक्त कभी भी भगवान् से आरोग्य या ऐश्वर्य की कामना नहीं करता, इतना ही नहीं, वह स्वर्ग तक की कामना नहीं करता। (७/९८-९९)

१५. प्रेम के धर्म में हमें द्वैत भाव से आरम्भ करना पड़ता है। उस समय हमारे लिए भगवान् हमसे भिन्न रहता है, और हम भी अपने को उससे भिन्न समझते हैं। फिर प्रेम बीच में आ जाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर अग्रसर होने लगता है और भगवान् भी क्रमश: मनुष्य के अधिकाधिक निकट आने लगता है। मनुष्य संसार के सारे सम्बन्ध – जैसे माता, पिता, पुत्र, सखा, स्वामी, प्रेमी आदि भाव – लेता है और अपने प्रेम के आदर्श भगवान् के प्रति उन सबको आरोपित करता जाता है। उसके लिए भगवान् इन सभी रूपों में विराजमान है; और उसकी उन्नति की चरम अवस्था तो

वह है, जिसमें वह अपने उपास्य देवता में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है। (४/७६)

१६. हम सबका पहले अपने प्रति प्रेम रहता है, और इस क्षुद्र अहं-भाव का असंगत दावा प्रेम को भी स्वार्थपर बना देता है। परन्तु अन्त में ज्ञान-ज्योति का भरपूर प्रकाश आता है, जिसमें यह क्षुद्र अहं उस अनन्त के साथ एक हो जाता है। इस प्रेम के प्रकाश में मनुष्य स्वयं सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है और अन्त में इस सुन्दर और प्राणों को उन्मत्त बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक ही हैं। (४/७६)

१७. भक्ति स्वाभाविक सुखकर पथ है। दर्शन एक प्रबल वेगवती पर्वतीय नदी को बलपूर्वक ठेलकर उसके उद्गम-स्थान की ओर ले जाने के सदृश है। वह द्रुततर है, किन्तु विशेष कठिन भी है। दर्शन कहता है, 'समुदय प्रवृत्ति का निरोध करो।' भक्तिमार्ग कहता है, 'सब कुछ धारा में बहा दो, सदा के लिए सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दो।' यह मार्ग लम्बा तो है, किन्तु अपेक्षाकृत सरल और सुखकर है। (७/५५)

१८. यदि मनुष्य को स्थायी भक्ति की उपलब्धि करनी है तो उसे यह द्वेष-बुद्धि छोड़नी ही होगी। द्वेष, भक्ति-पथ में बड़ा बाधक है – जो मनुष्य उसे छोड़ सकेगा, वही ईश्वर को पा सकेगा। (५/२४९)

१९. यदि किसी व्यक्ति को एक दिन भोजन न मिले तो उसे महाकष्ट होगा। सन्तान की मृत्यु होने पर उसको कैसी यन्त्रणा होती है! जो भगवान् के प्रकृत भक्त हैं, उनके भी प्राण भगवान् के विरह में इसी प्रकार छटपटाते हैं। भक्ति में यह बड़ा गुण है कि उसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है और परमेश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति होने से केवल उसीके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है। (५/२४८-४९)

२०. सब प्रकार के वैराग्यों में भक्तियोगी का वैराग्य सबसे स्वाभाविक है। उसमें न कोई कठोरता है, न कुछ छोड़ना पड़ता है, न हमें अपने आपसे कोई चीज छीननी पड़ती है, और न बलपूर्वक किसी चीज से हमें अपने

आपको अलग ही करना पड़ता है। भक्ति का त्याग तो अत्यन्त सहज और हमारे आसपास की वस्तुओं की तरह स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग, बहुत कुछ विकृत रूप में, हम प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते हैं। (४/४६)

२१. भक्त कहता है, "इस क्षणभंगुर संसार में, जहाँ प्रत्येक वस्तु टुकड़े टुकड़े हो धूल में मिली जा रही है, हमें अपने समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए।" और वास्तव में जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे सर्वभूतों की सेवा में लगा दिया जाय। (४/५८)

२२. हमारा सबसे बड़ा भ्रम यह है कि हमारा यह शरीर ही हम है और जिस किसी प्रकार से हो, इसकी रक्षा करनी होगी, इसे सुखी रखना होगा। और यह भयानक देहात्मबुद्धि ही संसार में सब प्रकार की स्वार्थपरता की जड़ है। यदि तुम यह निश्चित रूप से जान सको कि तुम शरीर से बिल्कुल पृथक् हो, तो फिर इस दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं रह जायगा, जिसके साथ तुम्हारा विरोध हो सके। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता के अतीत हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है कि हमें ऐसा रहना चाहिए, मानो हम दुनिया की सारी चीजों के लिए मर से गये हों। और वास्तव में यही यथार्थ आत्मसमर्पण है – यही सच्ची शरणागति है – 'जो होने का है, हो।' यही 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' का तात्पर्य है। (४/५८-५९)

२३. "प्रभो, लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिर बनवाते हैं, बड़े बड़े दान देते हैं; पर मैं तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। अतः मैं अपने इस शरीर को ही तुम्हारे चरणों में अर्पित करता हूँ। मेरा परित्याग न करना, मेरे प्रभो!" जिसने एक बार इस अवस्था का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए प्रेमास्पद भगवान् के चरणों में यह चिर आत्मसमर्पण कुबेर के धन और इन्द्र के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है, नाम-यश और सुख-सम्पदा की महान् आकांक्षा से भी महत्तर है। (४/५९)

२४. भक्त के शान्त आत्मसमर्पण से हृदय में जो शान्ति आती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती, वह बुद्धि के लिए अगोचर है। (४/५९)

२५. जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान् को सिद्ध किया जा सकता है अथवा नहीं, भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है या नहीं। उसके लिए तो भगवान् प्रेममय है – प्रेम का सर्वोच्च आदर्श है, और बस, यह जानना ही उसके लिए यथेष्ट है। भगवान् प्रेमरूप होने के कारण स्वतःसिद्ध है, वह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेमी के पास प्रेमास्पद का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए किसी बात की आवश्यकता नहीं। अन्यान्य धर्मों के न्यायकर्ता भगवान् का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता हो सकती है, पर भक्त तो ऐसे भगवान् की बात मन में भी नहीं ला सकता। उसके लिए तो भगवान् केवल प्रेमस्वरूप है। (४/६६-६७)

२६. पूर्णताप्राप्त भक्त अपने भगवान् को मन्दिरों और गिरजों में खोजने नहीं जाता; उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नहीं, जहाँ वह न हो। वह उसे मन्दिर के भीतर और बाहर सर्वत्र देखता है। साधु की साधुता में और दुष्ट की दुष्टता में भी वह उसके दर्शन करता है; क्योंकि उसने तो उस महिमामय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा लिया है और वह जानता है कि वह एक सर्वशक्तिमान एवं अनिर्वाण प्रेमज्योति के रूप में उसके हृदय में नित्य दीप्तिमान है और सदा से वर्तमान है। (४/६७)

२७. अन्त में भक्त इसी भाव पर आ पहुँचता है कि स्वयं प्रेम ही भगवान् है। और बाकी सब कुछ असत् है। भगवान् का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए मनुष्य को अब और कहाँ जाना होगा? इस प्रत्यक्ष संसार में जो कुछ भी पदार्थ हैं, सबके अन्दर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखायी देनेवाला तो भगवान् ही है। वही वह शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र, और तारों को घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री-पुरुषों में, सभी जीवों में, सभी वस्तुओं में प्रकाशित हो रही है। जड़ शक्ति के राज्य में, मध्याकर्षण शक्ति के रूप में वही विद्यमान है, प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक परमाणु में वही वर्तमान है – सर्वत्र उसकी ज्योति छिटकी हुई है। वही अनन्त प्रेमस्वरूप है, संसार की एकमात्र संचालिनी शक्ति है, और वही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है। (५/२८४)

२८. "मैं जानता हूँ कि मैं ही वह हूँ, तो भी मैं उससे अपने को अलग रखूँगा और उससे पृथक रहूँगा, ताकि मैं उस प्रियतम में आनन्द ले सकूँ।" प्रेम के लिए प्रेम – यही भक्त का सर्वोच्च सुख है। (४/७५)

२९. मैं एक ऐसे महापुरुष को जानता हूँ, जिन्हें लोग पागल कहते थे। इस पर उनका उत्तर था, "भाइयो, सारा संसार ही तो एक पागलखाना है। कोई सांसारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए, तो कोई पैसे कि लिए। फिर कोई ऐसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ – मैं भगवान् के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो, और मैं भगवान् के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं भी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सबसे उत्तम है।" यथार्थ भक्त के प्रेम में इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और इसके सामने अन्य सब कुछ उड़ जाता है। उसके लिए तो यह सारा जगत् केवल प्रेम से भरा है – प्रेमी को बस ऐसा ही दिखता है। जब मनुष्य में यह प्रेम प्रवेश करता है, तो वह चिरकाल के लिए सुखी, चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। और दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हममें समायी हुई संसार-व्याधि को सदा के लिए दूर कर दे सकती है। (४/७५-७६)

३०. इस संसार में मनुष्य सदा स्त्रियों के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ता फिरता है। कभी कभी उसे ऐसी जबरदस्त ठोकर लगती है कि उसकी आँख खुल जाती है और उसे मालूम हो जाता है कि यह संसार यथार्थ में क्या है। इस संसार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। मनुष्य को पता लग जाता है कि मानव-प्रेम हर तरह से खोखला है। मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता, वह केवल प्रेम की बातें ही करना जानता है। पत्नी कहती है कि मैं पति से प्रेम करती हूँ और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्यों ही पति की मृत्यु हो जाती है, सबसे पहले उसका ध्यान अपने पति के जमा किये हुए बैंक के धन की ओर जाता है और वह सोचने लगती

है कि कल मैं क्या क्या करूँगी। पति पत्नी से प्रेम करता है, पर जब पत्नी बीमार हो जाती है और उसका रूप नष्ट हो जाता है या उसे बुढ़ापा घेर लेता है अथवा पत्नी कोई भूल कर बैठती है, तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। संसार का समस्त प्रेम निरा दम्भ है, खोखलापन है। (९/१५-१६)

३१. वास्तव में सच्चे प्रेम की प्रतिक्रिया दुःखप्रद तो होती ही नहीं। उससे तो केवल आनन्द ही होता है। और यदि उससे ऐसा न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह और ही कोई चीज है, जिसे हम भ्रमवश प्रेम कहते हैं। जब तुम अपने पति, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, यहाँ तक कि समस्त विश्व को इस प्रकार प्रेम करने में सफल हो सको कि उससे किसी भी प्रकार दुःख, ईर्ष्या अथवा स्वार्थपरतारूप कोई प्रतिक्रिया न हो, केवल तभी तुम सम्यक् रूप से अनासक्त होने की अवस्था में पहुँच सकोगे। (३/३४)

३२. प्रश्न – तो क्या गृहस्थों के लिए इस प्रेममार्ग से, ईश्वर को पति या प्रियतम मानकर, प्रियाभाव से आराधना कर, भगवत्प्राप्ति असम्भव है? स्वामी जी – कुछ अपवाद छोड़कर साधारण गृहस्थों के लिए निस्सन्देह यह असम्भव है। और फिर इस कठिन मार्ग पर ही इतना बल क्यों? मधुर भाव के अतिरिक्त क्या अन्य कोई भाव या संबंध नहीं हैं, जिनके द्वारा भगवत्पूजा की जा सके? अन्य चारों मार्गों का अनुकरण कर, ईश्वर का नाम हृदय से स्मरण करो। पहले हृदय के द्वार तो खुलने दो, शेष सब अपने आप ही आ जायगा। लेकिन यह बात अच्छी तरह से समझ लो कि जब तक काम-वासना है, तब तक उस प्रेम का आविर्भाव नहीं होगा। पहले अपनी इन्द्रियासक्ति, भोगों की लालसा का ही त्याग क्यों न करो? तुम कहोगे – 'यह कैसे सम्भव है, मैं तो गृहस्थ हूँ।' फालतू बकवास है यह सब। गृहस्थ होने के माने यह तो नहीं है कि कोई मूर्तिमन्त वासना बन जाय या आजन्म वैवाहिक सुख का उपभोग करता रहे? और फिर मनुष्य के लिए यह कितना लज्जास्पद है कि स्वयं को स्त्री समझने लगे, जिससे कि मधुर भाव का

आचरण कर सके! (८/२८०-८१)

३३. 'पूर्ण रूपेण नि:स्वार्थ भाव, जिसमें प्रेम-पात्र के महत्त्व और उसकी आराधना के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार नहीं आता।' प्रेम ऐसा गुण है, जो झुकता है, पूजा करता है और बदले में कुछ नहीं चाहता। ईश्वर का प्रेम भिन्न वस्तु है। ईश्वर को हम इसलिए नहीं मानते कि हमें वास्तविक उसकी आवश्यकता है परन्तु अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उसकी आवश्यकता है। (१०/२६२)

३४. मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं, किन्तु वास्तविक स्वयं भगवान् है। स्त्री पति से और अधिक प्रेम करेगी, यदि वह समझेगी कि स्वामी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। पति भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा, यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वे माताएँ सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी, जो सन्तान को ब्रह्मस्वरूप देखेंगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे, जो जानेंगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग पवित्र व्यक्तियों से प्रेम करेंगे, जो समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। वे ही लोग अत्यन्त अपवित्र व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे जो यह जान लेंगे कि इन महादुष्टों के भी पीछे वे ही प्रभु विराजमान हैं। (२/४०)

३५. "ईश्वर का प्रेम 'मैं इससे क्या पा सकता हूँ!' सिद्धान्त के ऊपर आधारित प्रतीत होता है।" ईसाई अपने प्रेम में इतने स्वार्थी हैं कि वे निरन्तर ईश्वर से कुछ देने के लिए प्रार्थना किया करते हैं, जिनमें सभी प्रकार की स्वार्थपूर्ण वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। अत: आधुनिक धर्म एक मनोरंजन और फ़ैशन छोड़कर और कुछ नहीं है और लोग चर्च में भेड़ों के झुंड की भाँति एकत्र होते हैं। (१०/२६२)

□□□

३३

मूर्तिपूजा

१. ईश्वर नित्य, निराकार, सर्वव्यापी है। उसे विशेष रूपधारी समझना पाखंड होगा। पर मूर्ति-पूजा का रहस्य यह है कि तुम किसी एक वस्तु में अपनी ईश्वर-बुद्धि विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हो।' (३/१८८)

२. संसार के मुख्य धर्मों में से वेदान्त, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं का उपयोग करते हैं। केवल इस्लाम और प्रोटेस्टेण्ड, ये ही दो ऐसे धर्म हैं, जो इस सहायता की आवश्यकता नहीं मानते। फिर भी, मुसलमान प्रतिमा के स्थान में अपने पीरों और शहीदों की कब्रों का उपयोग करते हैं। और प्रोटेस्टेण्ड लोग धर्म में सब प्रकार की बाह्य सहायता का तिरस्कार कर धीरे धीरे वर्ष-प्रतिवर्ष आध्यात्मिकता से दूर हटते चले जा रहे हैं। (४/३४)

३. तुममें से प्रत्येक व्यक्ति ने सर्वव्यापी परमेश्वर में विश्वास करना सीखा है। वही सोचने की कोशिश करो। तुममें कितने कम लोग सर्वव्यापित्व की कल्पना कर सकते हैं! अगर तुम बहुत प्रयत्न करो, तो तुम्हें समुद्र की, आकाश की, विस्तृत हरियाली की या मरुभूमि की ही कल्पना आयेगी। लेकिन ये सब स्थूल आकृतियाँ हैं; और जब तक तुम अमूर्त की कल्पना अमूर्त रूप से ही नहीं कर सकते और जब तक निराकार, निराकार के रूप में ही तुम्हें अवगत नहीं होता, तब तक तुम्हें इन आकृतियों का, इन स्थूल मूर्तियों का आश्रय लेना ही होगा। ये आकृतियाँ चाहे मन के अन्दर हों, चाहे मन के बाहर, इससे कुछ अधिक अन्तर नहीं होता। हम सब जन्म

से ही मूर्तिपूजक हैं। और मूर्तिपूजा अच्छी है, क्योंकि यह मनुष्य के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। इस उपासना से परे कौन जा सकता है? केवल वही, जो सिद्ध पुरुष है, जो अवतारी पुरुष है। बाकी सब मूर्तिपूजक ही हैं। जब तक यह विश्व और उसमें की मूर्त वस्तुएँ हमारी आँखों के सामने खड़ी हैं, तब तक हममें से प्रत्येक मूर्तिपूजक है। स्वयं यह विश्व ही एक विशाल प्रतीक है, जिसकी हम पूजा कर रहे हैं। जो कहता है कि मैं शरीर हूँ, वह जन्म से ही मूर्तिपूजक है। हम हैं आत्मा, जिसका न कोई आकार है, न रूप, जो अनन्त है और जिसमें जड़त्व का सम्पूर्ण अभाव है। अतएव, जो लोग अमूर्त की धारणा तक नहीं कर सकते, जो शरीर या जड़ वस्तुओं का आश्रय लिये बिना अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकते, वे मूर्तिपूजक ही हैं। और फिर भी, ऐसे लोग एक दूसरे को 'तुम मूर्तिपूजक हो' कहते हुए आपस में कैसे झगड़ते हैं! दूसरे शब्दों में, प्रत्येक कहता है कि मेरी ही मूर्ति सच्ची है, दूसरों की नहीं! (३/२४५)

४. दो प्रकार के मनुष्यों को किसी मूर्ति की आवश्कता नहीं होती – एक तो मानव-रूपधारी पशु, जो कभी धर्म का विचार ही नहीं करता, और दूसरा पूर्णत्व प्राप्त व्यक्ति, जो इन सब सीढ़ियों को पार कर चुका है। इन दोनों छोरों के बीच, हम सबको किसी न किसी बाहरी या भीतरी आदर्श की आवश्यकता होती है। (९/४५-४६)

५. 'व्यक्ति की उपासना मत करो' यह कहना तो बहुत आसान है, पर साधारणत: जो मनुष्य ऐसा कहता है, वही व्यक्तित्व की अत्यधिक उपासना करनेवाला देखा जाता है। विशेष विशेष पुरुषों और स्त्रियों के प्रति उसकी अत्यधिक आसक्ति रहा करती है। उन लोगों की मृत्यु के पश्चात् भी वह आसक्ति नहीं जाती और मृत्यु के उपरान्त भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यह मूर्तिपूजा है, मूर्तिपूजा का आदि कारण अथवा बीज है, और कारण का अस्तित्व रहते हुए वह किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट होगा। क्या किसी साधारण पुरुष या स्त्री के प्रति आसक्ति रखने की अपेक्षा ईसा या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ नहीं है? (९/४६)

६. आजकल मूर्ति-पूजा को गलत बताने की प्रथा सी चल पड़ी है, और सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लग गये हैं। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और उसके दंडस्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरण कमलों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्ति-पूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था, मेरा अभिप्राय श्रीरामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं, तब तुम क्या पसन्द करोगे – सुधारकों का धर्म, या मूर्ति-पूजा? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा इस प्रकार श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हों, तो और हजारों मूर्तियों की पूजा करो। प्रभु तुम्हें सिद्धि दे! (५/११३)

७. ईसाई समझते हैं कि जब ईश्वर पंडुक से रूप में आया, तब तो ठीक था; पर जब वह मत्स्य के रूप में आता है, जैसा कि हिन्दू लोग मानते हैं, तो वह बिल्कुल गलत और कुसंस्कारपूर्ण है। यहूदी समझते हैं कि यदि मूर्ति सन्दूक के आकार की हो, जिसके किनारों पर दो देवदूत बैठे हों और जिसमें एक पुस्तक हो, तब तो वह ठीक है, पर यदि वही मूर्ति पुरुष या स्त्री के आकार की हो, तो वह भयंकर है! मुसलमान समझते हैं कि नमाज़ के समय यदि मसजिद और काबा की प्रतिमा अपने मन में लाने का प्रयत्न करें और पश्चिम की ओर अपना मुँह कर लें, तो बिल्कुल दुरुस्त है, पर यदि प्रतिमा चर्च के आकार की हो, तो वह मूर्ति-पूजा है। यह है मूर्ति-पूजा का दोष। (९/४४-४५)

८. तुम पूजा किसी भी वस्तु की कर सकते हो – पर हाँ, उसमें ईश्वर को देखते हुए। मूर्ति को भूल जाओ और उसमें ईश्वर के दर्शन करो। तुम किसी प्रतिमा का आरोपण ईश्वर पर मत करो, बल्कि प्रतिमा में ईश्वर को व्याप्त देखो। प्रतिमा को भूल जाओ, तभी तुम सही रास्ते पर होगे, क्योंकि 'उसी ईश्वर से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति है।' वह ईश्वर सभी वस्तुओं में है। हम एक चित्र की पूजा ईश्वर की तरह कर सकते हैं, पर ईश्वर को

वह चित्र मानकर नहीं। चित्र में ईश्वर की भावना करना ठीक है, पर चित्र को ईश्वर समझना भूल है। प्रतिमा में ईश्वर तो ठीक है, उसमें कोई खतरा नही; ईश्वर की सच्ची पूजा यही है। (९/४७)

९. शास्त्र का वाक्य है कि 'बाह्य पूजा या मूर्ति-पूजा सबसे नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सबसे उच्च अवस्था तो वह है, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाय।' देखिए, वही अनुरागी साधक, जो पहले मूर्ति के सामने प्रणत रहता था, अब क्या कह रहा है – 'सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।' पर वह किसीकी मूर्ति को गाली नहीं देता और न उसकी पूजा को पाप ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। 'बालक ही मनुष्य का जनक है।' (१/१८)

१०. अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है। अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वह समाज के सामने केवल एक कोट रख देता है, जो जैक, जॉन और हेनरी, सभी को ठीक होना चाहिए। यदि वह जॉन या हेनरी के शरीर में ठीक नहीं आता, तो उसे अपना तन ढँकने के लिए बिना कोट के ही रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार, चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूर्तियाँ, क्रूस या नवोदित चन्द्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानो बहुत सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ लटकायी जाती हैं। ऐसा नहीं है कि इन प्रतीकों की आवश्यकता हर एक के लिए हो, किन्तु जिनको अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि वे गलत हैं। हिन्दू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं। (१/१९)

११. भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह व्यभिचार की जननी नहीं है। वरन् वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं, उनके कुछ अपने अपवाद हैं, पर यह ध्यान रखिए कि उनके वे दोष अपने शरीर को ही उत्पीड़ित करने तक सीमित हैं, वे कभी अपने पड़ोसियों का गला नहीं काटने जाते। एक हिन्दू धर्मान्ध भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए 'इन्क्विजिशन' की अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा। और इस बात के लिए उसके धर्म को उससे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जितना डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है। (१/१९)

१२. अंधविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर धर्मान्धता तो उससे भी बढ़कर है। ईसाई गिरजाधर क्यों जाता है? क्रूस क्यों पवित्र है? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों किया जाता है? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। वह भी यह बात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिए तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? यदि नहीं, तो जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या देश की ही

ल्पना करने के सिवा हम और क्या करते हैं? (१/१७)

१३. मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, न्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म-जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार । सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए। (१/१७-८)

१४. इसलिए इन बचकानी कल्पनाओं का हमें त्याग कर देना चाहिए। में उन मनुष्यों की थोथी बकवास से परे चले जाना चाहिए, जो समझते कि सारा धर्म शब्दजाल में ही समाया है, जिनकी समझ में धर्म केवल द्धान्तों का एक समूह मात्र है, जिनके लिए धर्म केवल बुद्धि की सम्मति । विरोध है, जो धर्म का अर्थ केवल अपने पुरोहितों द्वारा बतलाये हुए छ शब्दों में विश्वास करना ही समझते हैं, जो धर्म को कोई ऐसी वस्तु मझते हैं, जो उनके बाप-दादाओं के विश्वास का विषय था, जो कुछ विशिष्ट ल्पनाओं और अन्धविश्वासों को ही धर्म मानकर उनसे चिपके रहते हैं और ह भी केवल इसलिए कि यह अन्धविश्वास उनके समस्त राष्ट्र का है। हमें । कल्पनाओं को त्याग देना चाहिए। अखिल मानव समाज को हमें एक सा विशाल प्राणी समझना चाहिए, जो धीरे धीरे प्रकाश की ओर बढ़ रहा अथवा एक ऐसा आश्चर्यजनक पौधा, जो स्वयं को उस अद्भुत सत्य प्रति शनैः शनैः खोल रहा है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। और इस ओर । पहली हलचल, पहली गति सदा बाह्य अनुष्ठानों तथा स्थूल वस्तुओं रा ही होती है। (३/२४५)

□□□

३४

मन और विचार

१. सर्वश्रेष्ठ महापुरुष शान्त, निर्वाक और अज्ञात होते हैं। वे ही वे व्यक्ति हैं, जिन्हें विचार की शक्ति का सच्चा ज्ञान रहता है। उनमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि वे किसी पर्वत की गुफा में जाकर उसके द्वार बन्द करके केवल पाँच सत्य विचारों का ही मनन कर इस संसार से चल बसें, तो उनके ये पाँच विचार ही अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। वास्तव में ऐसे विचार पर्वतों को भी भेदकर पार हो जायँगे, समुद्रों को लाँघ जायँगे, और सारे संसार में व्याप्त हो जायँगे। वे मानव-हृदय एवं मस्तिष्क में अन्तःप्रविष्ट होकर ऐसे नर-नारी उत्पन्न करेंगे, जो उन्हे मनुष्य के जीवन में कार्यान्वित करेंगे। (३/७९)

२. एक विचार लो; उसी विचार को अपना जीवन बनाओ – उसीका चिन्तन करो, उसीका स्वप्न देखो और उसीमें जीवन बिताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वाङ्ग उसीके विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है; और इसी उपाय से बड़े बड़े धर्मवीरों की उत्पत्ति हुई है। (१/९०)

३. मन एक ही हैं, समष्टि-मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया, उसने दुनिया की सारी मिट्टी जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्व-अधीन रख सकता है, वह हर मन का रहस्य जानता है और हर मन पर अधिकार रखता है। (४/१७४)

४. अतीत में कितने ही सर्वज्ञ हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि

अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे। (३/४)

५. विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति का नियामक है। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन पर दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास पर मास इसीका चिन्तन करो। पहले-पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। (२/१५६)

६. जब तुम्हारा मन संयत हो जायगा, तब तुम पूरे शरीर को वश में रख सकोगे। तब फिर तुम इस यन्त्र के दास नहीं बने रहोगे; यह देह-यन्त्र ही तुम्हारा दास होकर रहेगा। तब यह देह-यन्त्र आत्मा को खींचकर नीचे की ओर न ले जाकर उसकी मुक्ति में महान् सहायक हो जायगा। (१/१८०)

७. मन मानो सरोवर के समान है और हमारा प्रत्येक विचार मानो उस सरोवर की लहर के समान है। जिस प्रकार सरोवर में लहर उठती है, गिरती है, गिरकर अन्तर्हित हो जाती है, उसी प्रकार मन में ये सब विचार-तरंगें लगातार उठती और अन्तर्हित होती रहती हैं। किन्तु वे एकदम अन्तर्हित नहीं हो जातीं। वे क्रमशः सूक्ष्मतर होती जाती हैं, पर वर्तमान रहती ही हैं। प्रयोजन होने पर फिर उठती हैं। (२/२५)

८. मन ज्ञान की भी अतीत अवस्था में जा सकता है। जिस प्रकार अज्ञान-भूमि से जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य है, वैसे ही ज्ञान की उच्च भूमि से भी – ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उसमें भी किसी प्रकार का अहं-भाव नहीं रहता। यह अहं-भाव केवल बीच की अवस्था में रहता है। जब मन इस रेखा के ऊपर या नीचे विचरण करता है, तब किसी प्रकार का अहं-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु तब भी मन की क्रिया चलती रहती है। जब मन इस रेखा के ऊपर अर्थात् ज्ञान-भूमि के अतीत प्रदेश में गमन करता है, तब उसे समाधि, अतिचेतन या ज्ञानातीत भूमि कहते हैं। (१/९२)

९. मन विकल्परहित या वृत्तिहीन होता है तभी मन का लोप होता है और तभी आत्मा प्रत्यक्ष होती है। इस अवस्था का वर्णन भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने 'अपरोक्षानुभूति' कहकर किया है। (६/३५)

१०. हमारा शरीर मानो एक लोहपिण्ड है और हमारा प्रत्येक विचार मानो धीरे धीरे उसके ऊपर हथौड़ी की चोट मारना है – उसके द्वारा हम अपने शरीर का गढ़न इच्छानुसार करते हैं। (७/२८)

११. हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो।(७/२२)

१२. पर्वत की कन्दरा में भी बैठकर यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसीके प्रति घृणा का भाव पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा, और कालान्तर में फिर से वह तुम्हारे पास कुछ दुःख के रूप में आकर तुम पर प्रबल आघात करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि व्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे। (१/१७७-७८)

१३. हम जगत् के सम्पूर्ण शुभ विचारों के उत्तराधिकारीस्वरूप हैं – यदि हम अपने को उनके प्रति मुक्त कर दें। (७/२८)

१४. 'विचार और कार्य की स्वतंत्रता ही जीवन, उन्नति और कुशल-क्षेम का एकमेव साधन है।' जहाँ यह स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ व्यक्ति, जाति, राष्ट्र की अवनति निश्चय होगी।

जात-पाँत रहे या न रहे, सम्प्रदाय रहे या न रहे, परन्तु जो मनुष्य या वर्ग, जाति, राष्ट्र या संस्था किसी व्यक्ति के स्वतंत्र विचार या कर्म पर प्रतिबन्ध लगाती है – भले ही उससे दूसरों को क्षति न पहुँचे, तब भी – वह आसुरी है और उसका नाश अवश्य होगा। (२/३२१)

□□□

३५

एकाग्रता

१. मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस तरह संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि प्रकृति के द्वार पर कैसे खटखटाना चाहिए – उस पर कैसे आघात देना चाहिए, केवल यह ज्ञात हो गया, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केंद्रित होती है; यही रहस्य है। (१/४१)

२. मन सर्वदा ही नाना प्रकार के विषय ग्रहण कर रहा है, सदैव सब प्रकार की वस्तुओं में जा रहा है। फिर मन की ऐसी भी एक उच्चतर अवस्था है, जब वह केवल एक ही वस्तु को ग्रहण करके अन्य सब वस्तुओं को छोड़ दे सकता है। इस एक वस्तु को ग्रहण करने का फल है समाधि। (१/१८८)

३. प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने पर मन का यह नियत संयम प्रवाहाकार में चलता रहता है एवं उसकी स्थिरता होती है, और तब मन सदैव एकाग्रशील रह सकता है। (१/१८८)

४. मन एकाग्र हुआ है, यह कैसे जाना जाय? मन के एकाग्र हो जाने पर समय का कोई ज्ञान न रहेगा। जितना ही समय का ज्ञान जाने लगता है, हम उतने ही एकाग्र होते जाते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख पाते हैं कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन रहते हैं, तब समय की

ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं रहता। जब हम पढ़कर उठते हैं, तो अचरज करने लगते हैं कि इतना समय बीत गया! सारा समय मानो एकत्र होकर वर्तमान में एकीभूत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य आकर जितना ही एकीभूत होते जाते हैं, मन उतना ही एकाग्र होता जाता है। (१/१८८)

५. मनुष्य और पशु में यही अन्तर है – मनुष्य में चित्त की एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे से छोटे आदमी की तुलना ऊँचे से ऊँचे आदमी से करो। अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा में होता है। बस, यही अन्तर है। (४/१०८)

६. प्रत्येक व्यक्ति का मन कभी न कभी एकाग्र हो जाता है। हमें जो चीजें प्यारी होती है, उन पर हम मन जमाते हैं और जिन चीजों पर हम मन जमाते हैं, वे हमें प्यारी होती हैं। (४/१०८)

७. हमें चाहिए कि हम अपना मन वस्तुओं पर नियोजित करें, न कि वस्तुएँ हमारे मन को खींच लें। हमें बहुधा विवश होकर मन एकाग्र करना पड़ता है। हमारा मन विवश होकर विभिन्न वस्तुओं पर उनके किसी आकर्षक गुण के कारण जमने लगता है और हम उसका प्रतिरोध नहीं कर पाते। मन को वश में करने, अभीष्ट स्थान पर उसे लगाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे किसी तरीके से यह हो नहीं सकता। धर्म की साधना में मन को वश में करना आवश्यक है। इस साधना में हमें मन को मन में ही लगाना पड़ता है। (४/११०)

८. हमारे मन की शक्तियों की एकाग्रता ही हमारे लिए ईश्वर-दर्शन का एकमात्र साधन है। यदि तुम एक आत्मा को (अपनी आत्मा को) जान सको, तो तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी आत्माओं को जान सकोगे। इच्छा-शक्ति के द्वारा मन की एकाग्रता साधित होती है – और विचार, भक्ति, प्राणायाम इत्यादि विभिन्न उपायों से यह इच्छा-शक्ति उद्बुद्ध और वशीकृत हो सकती है। एकाग्र मन मानो एक प्रदीप है जिसके द्वारा आत्मा का स्वरूप

स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। (७/७२)

९. मन की एकाग्रता को प्राप्त करने पर भी कामनाओं और वासनाओं का उदय क्यों होता है?

स्वामीजी – पूर्व संस्कार से! बुद्धदेव जब समाधि अवस्था प्राप्त करने को ही थे, उसी समय 'मार' उनके सामने आया। 'मार' स्वयं कुछ भी नहीं था, वह मन के पूर्व संस्कार का ही छायारूप कोई प्रकाश था। (६/४४)

१०. एकाग्रता समस्त ज्ञान का सार है, उसके बिना कुछ नहीं किया जा सकता। साधारण मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है। प्रशिक्षित मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता। (४/१०६)

११. जब मन एकाग्र होता है और पीछे मोड़कर स्वयं पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है। (४/१०६)

१२. राजयोग हमें यही शिक्षा देनी चाहता है। इसमें जितने उपदेश हैं, उन सबका उद्देश्य, प्रथमतः, मन की एकाग्रता का साधन है; इसके बाद है – उसके गम्भीरतम प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना; और तत्पश्चात् उनसे साधारण सत्यों को निकालकर उनसे अपने एक सिद्धान्त पर उपनीत होना। इसीलिए राजयोग की शिक्षा किसी धर्मविशेष पर आधारित नहीं है। तुम्हारा धर्म चाहे जो हो – तुम चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, यहूदी या बौद्ध या ईसाई – इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; तुम मनुष्य हो, बस, यही पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य में धर्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है, उसे उसका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का, किसी भी विषय से क्यों न हो, कारण पूछने का अधिकार है, और उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही उन प्रश्नों के उत्तर पा सके। पर हाँ, उसे इसके लिए कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा। (१/४१)

□□□

३६

ध्यान

१. मान लो, मन किसी एक विषय को सोचने का प्रयत्न कर रहा है, किसी एक विशेष स्थान में – जैसे, मस्तक के ऊपर अथवा हृदय आदि में – अपने को पकड़ रखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि मन शरीर के केवल उस अंश के द्वारा संवेदनाओं को ग्रहण करने में समर्थ होता है, शरीर के दूसरे भागों के द्वारा नहीं, तो उसका नाम धारणा है; और जब वह अपने को कुछ समय तक उसी अवस्था में रखने में समर्थ होता है, तो उसका नाम है ध्यान। (१/१८५)

२. ध्यान उच्चतम अवस्था है। ... जब तक (चित्त में) संशय रहता है, ऊँची अवस्था नहीं होती। समाधि उच्चावस्था है। वह द्रष्टा और साक्षी के रूप में वस्तुओं को देखता है, परन्तु उनके साथ तदाकार नहीं होता। जब तक मुझे दुःख होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। जब तक मुझे मौज या खुशी का अनुभव होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। परन्तु जो उच्चावस्था है, उसमें सुख-दुख, दोनों में एक सा सुख अथवा आनंद प्रतीत होगा। ... प्रत्येक प्रकार का ध्यान प्रत्यक्ष समाधि है। चित्त के पूर्ण एकाग्र हो जाने पर जीवात्मा स्थूल शरीर के बंधन से वस्तुतः मुक्त हो जाती है और उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। (४/१२९-३०)

३. किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का ही नाम ध्यान है। किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता हो जाने से वह एकाग्रता जिस विषय

पर चाहो उस पर लगा सकते हो। (६/४३)

४. पहले किसी एक विषय का आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय मैं एक छोटे से काले बिंदु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के बाद वह बिंदु मुझे दीखना बन्द हो गया था। वह मेरे सामने है या नहीं यह भी ध्यान नहीं रहता था। निवात समुद्र के समान मन का सम्पूर्ण निरोध हो जाता था। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाई कुछ कुछ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसीके ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देव-देवी मूर्तियों के पूजने की व्यवस्था है। देव-देवी पूजा से ही शिल्प की उन्नति हुई है। परन्तु इस बात को अभी छोड़ दो। अब बात यह है कि ध्यान का बाहरी अवलम्बन सब का एक नहीं हो सकता। जो जिस विषय के आश्रय से ध्यान-सिद्ध हो गया है, वह उस अवलम्बन का ही वर्णन और प्रचार कर गया है। कालान्तर में वे मन को स्थिर करने के लिए हैं, इस बात के भूलने पर लोगों ने इस बाहरी अवलम्बन को ही श्रेष्ठ समझ लिया। उपाय में ही लोग लगे रह गये; उद्देश्य पर लक्ष्य कम हो गया। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है; किन्तु यह किसी विषय में तन्मय हुए बिना असम्भव है। (६/४३-४४)

५. "भितर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मारूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उसका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है। (६/२२१)

६. इसीका नाम यथार्थ पुरुषकार है। तेल की धार की तरह मन को एक ओर लगाये रखना चाहिए। जीव का मन अनेकानेक विषयों से विक्षिप्त हो रहा है। ध्यान के समय भी पहले-पहल मन विक्षिप्त होता है। मन में जो चाहे भाव उठें, उन्हें उस समय स्थिर हो बैठकर देखना चाहिए। देखते देखते मन स्थिर हो जाता है और फिर मन में चिन्तन की तरंगें नहीं रहतीं। वह तरंग-समूह ही है, मन की संकल्प-वृत्ति। इससे पूर्व जिन विषयों का तीव्र भाव से चिन्तन किया है, उनका एक मानसिक प्रवाह रहता है। इसीलिए वे विषय-ध्यान के समय मन में उठते हैं। साधक का मन धीरे धीरे स्थिरता की ओर जा रहा है, उनका उठना या ध्यान के समय स्मरण होना ही उसका प्रमाण है कि मन कभी कभी किसी भाव को लेकर एकवृत्तिस्थ हो जाता है – उसीका नाम है सविकल्प ध्यान। (६/२२१-२२)

७. आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा सहायक 'ध्यान' है। ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने आपको स्वतंत्र कर लेते हैं और अपने ईश्वरीय स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं। ध्यान करते समय हमें कोई बाहरी साधनों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। (३/१२३)

८. ध्यान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। मन की यह ध्यानावस्था आध्यात्मिक जीवन की सर्वाधिक समीपता है। समस्त जड़ पदार्थों से मुक्त होकर आत्मा का अपने आप के बारे में चिन्तन – आत्मा का यह अद्भुत संस्पर्श – यही हमारे दैनिक जीवन में एकमात्र ऐसा क्षण है, जब हम किंचित् भी पार्थिव नहीं रह जाते। (३/९७)

९. तू सर्वव्यापी आत्मा है, इसी बात का मनन और ध्यान किया कर। मैं देह नहीं – मन नहीं – बुद्धि नहीं – स्थूल नहीं – सूक्ष्म नहीं – इस प्रकार 'नेति' 'नेति' करके प्रत्यक् चैतन्य रूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन को बार बार डुबो डुबो कर मार डाल। तभी ज्ञानस्वरूप का बोध या स्व स्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता-ध्येय-ध्यान एक बन जायँगे – ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक हो जायँगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायगी। इसीको शास्त्र में 'त्रिपुटि भेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जानेगा कैसे? आत्मा ही ज्ञान – आत्मा ही चैतन्य – आत्मा ही सच्चिदानन्द है। (६/१६६)

१०. इस समाधि में प्रत्येक मनुष्य का, यही नहीं, प्रत्येक प्राणी का अधिकार है। सबसे निम्नतर प्राणी से लेकर अत्यन्त उन्नत देवता तक सभी, कभी न कभी, इस अवस्था को अवश्य प्राप्त करेंगे; और जब किसीको यह

अवस्था प्राप्त हो जायगी, तभी और सिर्फ़ तभी हम कहेंगे कि उसने यथार्थ धर्म की प्राप्ति की है। इससे पहले हम उसकी ओर जाने के लिए केवल संघर्ष करते हैं। जो धर्म नहीं मानता, उसमें और हममें अभी कोई विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि हमें आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। इस आत्म-साक्षात्कार तक हमें पहुँचाने के बिना एकाग्रता का और क्या शुभ उद्देश्य है? इस समाधि को प्राप्त करने के प्रत्येक अंग पर गम्भीर रूप से विचार किया गया है, उसे विशेष रूप से नियमित, श्रेणीबद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली में सम्बद्ध किया गया है। यदि साधना ठीक ठीक हो और पूर्ण निष्ठा के साथ की जाय, तो वह अवश्य हमें अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देगी। और तब सारे दुःख-कष्टों का अंत हो जायगा, कर्म का बीज दग्ध हो जायगा और आत्मा चिरकाल के लिए मुक्त हो जायगी। (१/१००)

□□□

३७

आहार

१. साधना की पहली अवस्था में, भोजन के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना होगा; फिर बाद में साधना में विशेष प्रगति हो जाने पर उतना सावधान न रहने से भी चलेगा। जब तक पौधा छोटा रहता है, तब तक उसे घेरकर रखते हैं, नहीं तो जानवर उसे चर जायँ। उसके बड़े वृक्ष हो जाने पर घेरा निकाल दिया जाता। तब वह सारे आघात झेलने के लिए पर्याप्त शक्त है। (१/४६)

२. भोजन के सम्बन्ध में कुछ नियम आवश्यक हैं। जिससे मन खूब पवित्र रहे, ऐसा भोजन करना चाहिए। (१/४६)

३. कुछ दूसरे प्रकार के आहार हैं, जिनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है और प्रकारान्तर से वे मन पर भी अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। इससे हम बहुत बड़ा पाठ यह सीखते हैं कि हम जिन दुःखों को भोग रहे हैं, उनका अधिकांश हमारे खाये हुए आहार से ही प्रसूत होता है। अधिक मात्रा में तथा दुष्पाच्य भोजन के उपरान्त हम देखते हैं कि मन को वश में रखना कितना कठिन हो जाता है। (९/४)

४. केवल दिन-रात खाद्य और अखाद्य पर वाद-विवाद करके ही जीवन व्यतीत करना उचित है या वास्तव में इन्द्रिय-संयम करना आवश्यक है? अतएव हमें इन्द्रिय-संयम को ही मुख्य उद्देश्य मान लेना होगा; और उस इन्द्रिय-संयम के लिए ही भले-बुरे खाद्य-अखाद्य का थोड़ा-बहुत विचार करना होगा। (६/१४५)

५. शास्त्रों ने कहा है, खाद्य तीन प्रकार के दोषों से अपवित्र तथा त्याज्य होता है। (१) जाति दोष – जैसे प्याज, लहसुन आदि। (२) निमित्त दोष – जैसे हलवाई की दूकान की मिठाई, जिसमें कितनी ही मरी मक्खियाँ तथा रास्ते की धूल उड़कर पड़ी रहती है, आदि। (३) आश्रय दोष – जैसे बुरे व्यक्ति द्वारा छुआ हुआ अन्न आदि। जाति दोष अथवा निमित्त दोष से खाद्य युक्त है या नहीं, इस पर सभी समय विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। (६/१४५)

६. आरम्भिक दशा में साधक को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए, जो उसकी गुरु-परम्परा से चले आ रहे हैं। परन्तु आजकल हमारे अनेक सम्प्रदायों में इस आहारादि विचार की इतनी बढ़ा-चढ़ी है, अर्थहीन नियमों की इतनी पाबन्दी है कि उन सम्प्रदायों ने मानो धर्म को रसोईघर में ही सीमित कर रखा है। उस धर्म के महान् सत्य वहाँ से बाहर निकलकर कभी आध्यात्मिकता के सूर्यालोक में जगमगा सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। इस प्रकार का धर्म एक विशेष प्रकार का कौरा जड़वाद मात्र है। (४/३९)

७. तुमने मांसभोजी क्षत्रियों की बात उठायी है। क्षत्रिय लोग चाहे मांस खायँ या न खायँ, वे ही हिन्दू धर्म की उन सब वस्तुओं के जन्मदाता हैं, जिनको तुम महत् और सुन्दर देखते हो। उपनिषद् किन्होंने लिखी थी? राम कौन थे? कृष्ण कौन थे? बुद्ध कौन थे? जैनों के तीर्थंकर कौन थे? जब कभी क्षत्रियों ने धर्म का उपदेश दिया, उन्होंने सभी को धर्म पर अधिकार दिया। और जब कभी ब्राह्मणोंने कुछ लिखा, उन्होंने औरों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित करने की चेष्टा की। गीता और व्याससूत्र पढ़ो, या किसीसे सुन लो। गीता में भक्ति की राह पर सभी नर-नारियों, सभी जातियों और सभी वर्णों को अधिकार दिया गया है, परन्तु व्यास गरीब शूद्रों को वंचित करने के लिए वेद की मनमानी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। क्या ईश्वर तुम जैसा मूर्ख है कि एक टुकड़े मांस से उसकी दयारूपी नदी के प्रवाह में बाधा खड़ी हो जायगी? अगर वह ऐसा ही है, तो उसका मोल एक फूटी कौड़ी भी नहीं! (२/३२८-२९)

८. जीव-हत्या निश्चय ही पाप है, किन्तु जब तक शाकाहार रसायन की प्रगति द्वारा मानव-प्रकृति के लिए उपयुक्त नहीं बन जाता, तब तक मांस-भक्षण के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है। परिस्थितिवश जब तक मनुष्य राजसिक जीवन बिताने के लिए बाध्य है, तब तक उसे उसके लिए मांस-भक्षण करना ही पड़ेगा। यह सत्य है कि सम्राट् अशोक के दण्ड-भय से लाखों जानवरों की प्राण-रक्षा हुई थी, लेकिन हज़ारों वर्षों की गुलामी क्या उससे भयानक नहीं? इनमें से कौन अधिक पापपूर्ण है? – कुछ बकरियों की जान लेना या अपनी पत्नी-पुत्री की मर्यादा की रक्षा करने और आततायी हाथों द्वारा अपने बच्चों के मुख का ग्रास बचाने में असमर्थ होना? समाज के उन कुछ उच्चवर्गीय लोगों के, जो अपनी जीविका के लिए कोई भी शारीरिक श्रम नहीं करते, मांस न खाने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उन अधिकांश लोगों पर, जो रात-दिन परिश्रम करके अपनी रोटी कमाते हैं, शाकाहार लादना ही हमारी राष्ट्रीय परतंत्रता का एक कारण हुआ है। (६/३१४)

९. देश के जिन सब लोगों को तू आज सत्त्वगुणी समझ रहा है, उनमें से पन्द्रह आने लोग तो घोर तमोगुणी हैं। एक आना सतोगुणी मनुष्य मिले तो बहुत हैं। अब चाहिए प्रबल रजोगुण की ताण्डव उद्दीपना। देश जो घोर तमसाच्छन्न है, देख नहीं रहा है? अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बना डालना होगा, जगाना होगा, कार्य तत्पर बनाना होगा; नहीं तो धीरे धीरे देश के सभी लोग जड़ बन जायँगे – पेड़-पत्थरों की तरह जड़ बन जायँगे। इसीलिए कह रहा था, मछली और मांस खूब खाना। (६/१४४-४५)

१०. मांस खाना अवश्य असभ्यता है। निरामिष भोजन ही पवित्र है। जिनका उद्देश्य धार्मिक जीवन है, उनके लिए निरामिष भोजन अच्छा है और जिसे रात-दिन परिश्रम करके प्रतिद्वन्द्विता के बीच में जीवन-नौका खेना है, उसे मांस खाना ही होगा। जितने दिन 'बलवान की जय' का भाव मानव-

समाज में रहेगा, उतने दिन मांस खाना ही पड़ेगा अथवा किसी दूसरे प्रकार की मांस जैसी उपयोगी चीज़ खाने के लिए ढूँढ़ निकालनी होगी। नहीं तो बलवानों के पैर के नीचे बलहीन पिस जायँगे। राम, श्याम निरामिष खाकर मजे में हैं, ऐसा कहने से नहीं चलेगा। एक जाति की दूसरी जाति से तुलना करके देखना होगा। (१०/७६)

□□□

३८

अहिंसा

१. शरीर, मन और वचन के द्वारा कभी किसी प्राणी की हिंसा न करना या उन्हें क्लेश न देना – यह अहिंसा कहलाता है। अहिंसा से बढ़कर और धर्म नहीं। मनुष्य के लिए जीव के प्रति यह अहिंसा-भाव रखने से अधिक और कोई उच्चतर सुख नहीं है। (१/१०१)

२. अहिंसा की कसौटी है – ईर्ष्या का अभाव। कोई व्यक्ति भले ही क्षणिक आवेश में आकर अथवा किसी अन्धविश्वास से प्रेरित हो या पुरोहितों के छक्केपंजे में पड़कर कोई भला काम कर डाले, अथवा खासा दान दे डाले, पर मानव जाति का सच्चा प्रेमी वह है, जो किसीके प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं रखता। बहुधा देखा जाता है कि संसार में जो बड़े मनुष्य कहे जाते हैं, वे अक्सर एक दूसरे के प्रति केवल थोड़े से नाम, कीर्ति या चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्या-भाव मन में रहता है, तब तक अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है। गाय मांस नहीं खाती, और न भेड़ ही; तो क्या वे बहुत बड़े योगी हो गये, अहिंसक हो गये? ऐरा-गैरा कोई भी कोई विशेष चिज खाना छोड दे सकता है, पर उससे वह घासाहारी पशुओं की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं प्राप्त करता। जो मनुष्य निर्दयता के साथ विधवाओं और अनाथ बालक-बालिकाओं को ठग सकता है और जो थोड़े से धन के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य करने में भी नहीं हिचकता, वह तो पशु से भी गया-बीता है – फिर चाहे वह घास खाकर ही क्यों न रहता हो। जिसके हृदय में कभी भी किसीके

प्रति अनिष्ट विचार तक नहीं आता, जो अपने बड़े से बड़े शत्रु की भी उन्नति पर आनन्द मनाता है, वही वास्तव में भक्त है, वही योगी है और वही सबका गुरु है – फिर भले ही वह प्रतिदिन शूकर-मांस ही क्यों न खाता हो। अतएव हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि के लिए सहायक मात्र हैं। जब बाह्य कर्मों के साधन में छोटी छोटी बातों का पालन करना सम्भव न हो, तो उस समय केवल अन्त:शौच का अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। पर धिक्कार है उस व्यक्ति को, धिक्कार है उस राष्ट्र को, जो धर्म के सार को तो भूल जाता है और अभ्यासवश बाह्य अनुष्ठानों को ही कसकर पकड़े रहता है तथा उन्हें किसी तरह छोड़ता नहीं! (४/४१)

३. जो मुक्त होना चाहे, उसे अहिंसक बनना पड़ेगा। जिसमें अहिंसा का भाव है, उससे बढ़कर शक्तिशाली कोई नहीं है। उसकी उपस्थिति में न तो कोई लड़ सकता है और न झगड़ा कर सकता है। हाँ, वह जहाँ कहीं होगा, वहीं उसकी उपस्थिति मात्र से शान्ति और प्रेम उद्भूत होगा, दूसरी किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। उसकी उपस्थिति में न तो कोई क्रुद्ध होगा, न लड़ेगा। उसके सामने पशु – हिंस्र पशु तक शान्त रहेंगे। (४/१८२)

४. सब महापुरुषों का उपदेश है कि 'अशुभ का प्रतिरोध न करो' अप्रतिरोध ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है। हम जानते हैं कि यदि हममें कुछ लोग इस सूत्र को पूर्णत: चरितार्थ करने लगें, तो समाज का सारा संघटन ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। दुष्ट लोग हमारी ज़ान और माल पर हाथ मारने और मनमानी करने लगेंगे। यदि इस प्रकार का 'अप्रतिरोध-धर्म' एक दिन भी आचरण में लाया जाय, तो बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। परन्तु फिर भी अपने हृदय के अन्तस्तल से हम 'अशुभ का प्रतिरोध न करो' उपदेश की सत्यता अनुभव करते रहते हैं। हमें वह सर्वोच्च आदर्श प्रतीत होता है; परन्तु केवल इसी मत का प्रचार करना अधिकांश मानवता की भर्त्सना करना होगा। इतना ही नहीं, बल्कि इसके द्वारा मनुष्यों को सदा यही अनुभव होने लगेगा कि वे अन्याय ही कर रहे हैं। उनके हृदय में प्रत्येक कार्य के बारे में संकल्प-विकल्प सा होने लगेगा, उनका मन दुर्बल हो जायगा तथा अन्य किसी दुर्गुण की अपेक्षा यह सतत आत्म-धिक्कार उनमें अधिक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देगा। (३/१२)

५. निष्क्रियता का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्रियाशीलता का अर्थ है 'प्रतिरोध'। मानसिक तथा शारीरिक समस्त दोषों का प्रतिरोध करो, और जब तुम इस प्रतिरोध में सफल होगे, तभी शान्ति प्राप्त होगी। यह कहना बड़ा सरल है कि 'किसीसे घृणा मत करो, किसी अशुभ का प्रतिरोध मत करो', परन्तु हम जानते हैं कि इसे कार्यरूप में परिणत करना क्या है। जब सारे समाज की आँखे हमारी ओर लगी हों, तो हम अप्रतिरोध का प्रदर्शन भले ही करें, परन्तु हमारे हृदय में वह सदैव कुरेदती रहती है। (३/१४-१५)

६. गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूर होना चाहिए और गुरु और बन्धुजनों के समक्ष नम्र।

शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके उसे उस पर शासन करना चाहिए। यह गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर में कोने में बैठकर रोना और 'अहिंसा परमो धर्म:' कहकर खाली बकवास न करना चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। (३/२०)

७. इस महान् सत्य को हम सबको अवगत कर लेना चाहिए कि सभी विषयों में दोनों चरम अवस्थाएँ एक सदृश होती हैं। चरम 'अस्ति' और चरम 'नास्ति', दोनों सदैव एक समान होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रकाश का स्पन्दन यदि अत्यन्त मंद होता है, तो हम उसे नहीं देख सकते; और इसी प्रकार जब वह अत्यन्त तीव्र होता है, तब भी हम उसे देखने में असमर्थ होते हैं। 'ध्वनि' के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। न तो उसके तार-स्वर के बहुत निम्न होने पर हम उसे सुन सकते हैं और न उसके बहुत उच्च होने पर। इसी प्रकार का भेद 'प्रतिरोध' तथा 'अप्रतिरोध' में है। एक

मनुष्य इसलिए प्रतिरोध नहीं करता कि वह कमजोर है, सुस्त है, असमर्थ है; दूसरी ओर एक दूसरा मनुष्य है, जो यह जानता है कि यदि वह चाहे, तो जबर्दस्त प्रतिरोध कर सकता है, परन्तु फिर भी वह केवल अप्रतिरोध ही नहीं करता, वरन् अपने शत्रुओं के प्रति शुभ कामनाएँ भी प्रकट करता है। अत: वह मनुष्य जो दुर्बलता के कारण प्रतिरोध नहीं करता, पापग्रस्त होता है और इसलिए अप्रतिरोध से कोई लाभ नहीं उठा सकता; परन्तु दूसरा मनुष्य यदि प्रतिरोध करे, तो वह भी पाप का भागी होता है। (३/१३)

□□□

३९

बल

१. यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है, और दुर्बलता ही मृत्यु। (९/१७७)

२. लोग बचपन से ही शिक्षा पाते हैं कि वे दुर्बल हैं, पापी हैं। इस प्रकार की शिक्षा से संसार दिन पर दिन दुर्बल होता जा रहा है। उनको सिखाओ कि वे सब उसी अमृत की सन्तान है – और तो और, जिसके भीतर आत्मा का प्रकाश अत्यन्त क्षीण है, उसे भी यही शिक्षा दो। बचपन से ही उनके मस्तिष्क में इस प्रकार के विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दें, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। दुर्बलता और अवसादकारक विचार उनके मस्तिष्क में प्रवेश ही न करें। सच्चिन्तन के स्रोत में शरीर को बहा दो, अपने मन से सर्वदा कहते रहो, 'मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन-रात यह बात संगीत की भाँति झंकृत होती रहे, और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर सोऽहम्, सोऽहम् खेलता रहे। यही सत्य है – जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है। (२/२०)

३. ज्यों ही तुमने कहा कि मैं बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूँ, त्यों ही तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ हो गया, तुमने अपने पैरों में और एक बेड़ी डाल ली। इसलिए ऐसी बात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही। (२/१८६)

४. वेदान्त कहता है – दुर्बलता ही संसार में समस्त दुःख का कारण

इसीसे सारे दुःख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसीलिए इतना दुःख [प]ाते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी [प्रक]ार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु [के] मुख में गिरते है। जहाँ हमें दुर्बल बनानेवाला कोई नहीं है, वहाँ न मृत्यु [है,] न दुःख। (२/१८६)

५. स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, जिस समय दैहिक, मानसिक अथवा [आ]ध्यात्मिक शिक्षा पाते हैं, उस समय मैं उनसे यही एक प्रश्न करता हूँ 'क्या तुम्हें इससे बल प्राप्त होता है?'' क्योंकि जानता हूँ, एकमात्र सत्य [ही] बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही प्राणप्रद है। सत्य [की] ओर गये बिना हम अन्य किसी भी उपाय से वीर्यवान नहीं हो सकते, [और] विर्यवान हुए बिना हम सत्य के समीप नहीं पहुँच सकते। इसीलिए [जो] मत, जो शिक्षा-प्रणाली मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दे और मनुष्य [को] कुसंस्कार से भर दे, जिससे वह अन्धकार में टटोलता रहे, खयाली [पुला]व पकाता रहे और सब प्रकार की अजीबोगरीब और अन्धविश्वासपूर्ण [बातो]ं की तह छानता रहे, उस मत या प्रणाली को मैं पसन्द नहीं करता, [क्यों]कि मनुष्य पर उसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। ऐसी प्रणालियों [से क]भी कोई उपकार नहीं होता; प्रत्युत वे मन में रोगात्मकता ला देती हैं, [उसे] दुर्बल बना देती हैं – इतना दुर्बल कि कालान्तर में मन सत्य को ग्रहण [करने] और उसके अनुसार जीवन - गठन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता [है। अ]तः बल ही एक आवश्यक बात है। (२/१८८-८९)

६. अपने भाग्य के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। मैं स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता हूँ। पर मेरा स्वरूप शुद्ध और आनन्द मात्र है। इससे विपरीत [वि]चार हैं, उनको त्याग देना चाहिए। (२/१८९)

७. अपने से और सबसे यही कहना कि हम ब्रह्मस्वरूप हैं। हम ज्यों [ज्यों] इसकी आवृत्ति करते हैं, त्यों त्यों हममें बल आता जाता है। 'शिवोऽहं' यह अभय वाणी क्रमशः अधिकाधिक गम्भीर हो हमारे हृदय में, हमारे भावों में भिदती जाती है और अन्त में हमारी नस नस में, हमारे शरीर

के प्रत्येक भाग में समा जाती है। (२/१९०)

८. जो लोग अपने दुःखों या कष्टों के लिए दूसरों को दोषी बनाते हैं (और दुःख की बात तो यह है कि ऐसे लोगों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है) वे साधारणतया अभागे और दुर्बल-मस्तिष्क हैं। अपने ही कर्म-दोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पड़े हैं, और अब वे दूसरों को इसके लिए दोषी ठहरा रहे हैं। पर इससे उनकी दशा में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता – उनका कोई उपकार नहीं होता, वरन् दूसरों पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल बन जाते हैं। अतएव अपने दोष के लिए तुम किसीको उत्तरदायी न समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। (२/१२०)

९. तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। गतस्य शोचना नास्ति – अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं। (२/१२०-२१)

१०. वेदान्त कहता है कि फिर भी मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना अधिक सहायता नहीं करता, उसको बल प्रदान करो,

और बल सदैव निर्बलता का चिंतन करते रहने से नहीं प्राप्त होता। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिंतन करते रहना नहीं है, वरन् बल का चिंतन करना है। मनुष्य में जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिला दो। मनुष्य को पापी न बतलाकर वेदान्त ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है, 'तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो, वह तुममें नहीं है।' जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में काशित करो। यह एक बात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और से हम सब कर सकते हैं। कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' ह कभी न कहना, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना देश-काल भी कुछ नहीं हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान ो। (८/११)

११. वह क्या है जिसके सहारे मनुष्य खड़ा होता है और काम करता ? – वह है बल। बल ही पुण्य है तथा दुर्बलता ही पाप है। उपनिषदों यदि कोई एक ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर पतित ता है, उसे तो बिल्कुल उड़ा देता है, वह है 'अभीः' – निर्भयता। संसार ो यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी चाहिए तो वह है 'निर्भिकता'। यह त्य है कि इस ऐहिक जगत् में, अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन था पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण तथा इसी के कारण सारी बुराई होती है। और भय होता क्यों है? – त्मस्वरूप के अज्ञान के कारण। (५/५७)

१२. तुमने जगत् पर सम्मोहन का जो पर्दा डाल रखा है उसे हटा । मनुष्य को दुर्बल न सोचो, उसे दुर्बल न कहो। समझ लो कि एक दुर्बलता ब्द से ही सब पापों और सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का निर्देश हो जाता है। रे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही ष्य सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों कष्ट पहुँचाता है; दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप

प्रकाशित नहीं कर सकता। सब लोग जाने कि वे क्या हैं? दिन-रात वे अपने स्वरूप – सोऽहम् का जप करें। माता के स्तन-पान के साथ 'सोऽहम्' (मैं वही हूँ) – इस ओजमयी वाणी का पान करें। (५/३१६)

१३. धर्म और ईश्वर कहने से अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य समझा जाता है। दुर्बलता और दासत्व का त्याग करो। (७/२०)

१४. शक्ति, शक्ति – यही हमको चाहिए, हमको शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। कौन प्रदान करेगा हमको शक्ति? हमको दुर्बल करने के लिए सहस्रों विषय हैं, कहानियाँ भी बहुत हैं। हमारे प्रत्येक पुराण में इतनी कहानियाँ हैं कि जिससे संसार में जितने पुस्तकालय हैं, उनका तीन चौथाई भाग पूर्ण हो सकता है; जो हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकती हैं, ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हममें विगत एक हजार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विगत एक हजार वर्ष से हमारे जातीय जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य था कि किस प्रकार हम अपने को दुर्बल से दुर्बलतर बना सकेंगे। अन्त में हम वास्तव में हर एक के पैर के पास रेंगनेवाले ऐसे केचुओं के समान हो गये हैं कि इस समय जो चाहे वही हमको कुचल सकता है। हे बन्धुगण, तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त का प्रवाह हो रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणों से कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए। (५/१३३)

१५. जिससे बल मिलता है, उसीका अनुसरण करना चाहिए। अन्यान्य विषयों में जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है – जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है। (१/४४)

□□□

४०

गृहस्थ जीवन

१. गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए तथा ब्रह्मज्ञान का लाभ ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु फिर भी उसे निरन्तर अपने सब कर्म करते रहना चाहिए – अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए; और अपने समस्त कर्मों के फलों को ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिए। (३/१७)

२. सबसे ठीक बात यह है कि स्वधर्म का अनुसरण करो। अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो, यथासाध्य परोपकार करो। किन्तु गृहस्थ के लिए अन्याय सहना पाप है, उसी समय उसका बदला चुकाने की चेष्टा करनी होगी। (१०/५२)

३. बड़े उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री तथा परिवार के दस प्राणियों का पालन करना होगा, दस हितकर बातें करनी होंगी। ऐसा न कर सकने पर तुम मनुष्य किस बात के? जब तुम गृहस्थ ही नहीं हो फिर मोक्ष की तो बात ही क्या!! (१०/५२)

४. गृहस्थ के लिए अपनी आय को व्यय करने का यह नियम है कि वह आय का चतुर्थांश परिवार पर, चतुर्थांश दान पर, चतुर्थांश बचत पर, और चतुर्थांश स्वयं पर व्यय करे। (१/२९७)

५. यदि कोई मनुष्य ईश्वरोपासना के निमित्त संसार से विरक्त हो जाय, तो उसे यह नहीं समझना चाहिए कि जो लोग संसार में रहकर संसार के हित के लिए कार्य करते हैं, वे ईश्वर की उपासना नहीं करते; और न अपने

स्त्री-बच्चों के लिए संसार में रहनेवाले गृहस्थों को ही यह सोचना चाहिए कि जिन लोगों ने संसार का त्याग कर दिया है, वे आलसी और निकम्मे हैं। अपने अपने स्थान में सभी बड़े हैं। (३/२४)

६. "पश्चिम विवाह को विधिमूलक गठबन्धन के बाहर जो कुछ है, उन सबसे युक्त मानता है, जब भारत में इसे समाज के द्वारा दो व्यक्तियों को शाश्वत काल तक संयुक्त रखने के लिए उनके ऊपर डाला हुआ बन्धन माना जाता है। उन दोनों को एक दूसरे को जन्म-जन्मान्तर के लिए वरण करना होगा, चाहे उनकी इच्छा हो या न हो। प्रत्येक एक दूसरे के आधे पुण्य का भागी होता है। यदि एक इस जीवन में बुरी तरह पीछड़ जाता है, तो दूसरे को, जब तक कि वह फिर बराबर नहीं आ जाता, केवल प्रतीक्षा करनी पड़ती है, समय देना होता है।" (८/१४०)

७. पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष – वह चाहे जितना भी पथ-भ्रष्ट क्यों न हो गया हो – अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अभी भी उतना गिरा नहीं है। हम बहुधा संसार में बहुत से निर्दय पतियों तथा पुरुषों के भ्रष्टाचरण के बारे में सुनते रहते हैं; परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि संसार में उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी है? यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध और पवित्र होती, जितना कि वे दावा करती हैं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी अपवित्र पुरुष न रह जाता। ऐसा कौन सा पाशविक भाव है, जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकता? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषों को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति में इतनी उन्नत हो जायगी कि एक अत्यन्त पाशविक प्रवृत्तिवाला मनुष्य भी उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पति को, अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के समान देखना चाहिए। विशेषकर उस मनुष्य को, जो धर्म का प्रचारक होना

चाहता है, यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और उसके साथ सदैव तद्रूप व्यवहार करे। (३/४२)

८. गृहस्थ ही समाज-जीवन का केन्द्र है। उसके लिए धन कमाना तथा उसका सत्कर्मों में व्यय करना ही उपासना है। जिस प्रकार एक संन्यासी को अपनी कुटी में बैठकर की हुई उपासना उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है, उसी प्रकार एक गृहस्थ की भी सदुपाय तथा सदुद्देश्य से धनी होने की चेष्टा उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है; क्योंकि इन दोनों में ही हम, ईश्वर तथा जो कुछ ईश्वर का है, उस सबके प्रति भक्ति से उत्पन्न हुए आत्मसमर्पण एवं आत्मत्याग का ही प्रकाश पाते हैं; भेद है केवल प्रकाश के रूप भर में। (३/२२)

९. अपने बच्चों को तुम जो देते हो, तो क्या उसके बदले में उनसे कुछ माँगते हो? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनके लिए काम करो, और बस, वहीं पर बात समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किसी दूसरे पुरुष, किसी नगर अथवा देश के लिए तुम जो कुछ करो, उसके प्रति भी वैसा ही भाव रखो; उनसे किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखो। यदि तुम सदैव ऐसा ही भाव रख सको कि तुम केवल दाता ही हो, जो कुछ तुम देते हो, उससे तुम किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नहीं रखते, तो उस कर्म से तुम्हें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होगी। (३/३५)

१०. मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "अपने बच्चों के प्रति वही भावना रखो, जो एक धाय की होती है।" वह तुम्हारे बच्चे को गोद में लेती है, उसे खिलाती है और उसको इस प्रकार प्यार करती है, मानो वह उसीका बच्चा हो। पर ज्यों ही तुम उसे काम से अलग कर देते हो, त्यों ही वह अपना बोरा-बिस्तर समेट तुरन्त घर छोड़ने को तैयार हो जाती है। उन बच्चों के प्रति उसका जो इतना प्रेम था, उसे वह बिल्कुल भूल जाती है। एक साधारण धाय को तुम्हारे बच्चों को छोड़कर दूसरे के बच्चों को लेने में तनिक भी दुःख न होगा। तुम भी अपने बच्चों के प्रति यही भाव धारण करो। तुम्हीं उनकी धाय हो, – और यदि तुम्हारा ईश्वर में विश्वास है, तो विश्वास करो कि ये सब चीजें, जिन्हें तुम अपनी समझते हो, वास्तव में ईश्वर की हैं। (३/६३)

११. गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूर होना चाहिए और गुरु और बन्धुजनों के समक्ष नम्र।

शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके उसे उस पर शासन करना चाहिए। यह गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर में कोने में बैठकर रोना और 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर खाली बकवास न करना चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। (३/२०)

१२. धीर गृहस्थ को सत्य, मृदु, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने चाहिए। वह अपने उत्कर्ष की चर्चा न करे और दूसरों की निन्दा करना छोड़ दे। (३/२३)

१३. उसे सभी प्रकार यश अर्जन की चेष्टा करनी चाहिए। जुआ खेलना, दुष्ट व्यक्तियों का संग, असत्य भाषण तथा दूसरों को कष्ट पहुँचाना – उसे कभी नहीं करना चाहिए। (३/२२-२३)

□□□

४१

संन्यास या संन्यस्त जीवन

१. मनुष्य जिस स्थिती में पैदा हुआ है, उसके कर्तव्य जब वह पूरे र लेता है, जब उसकी आकांक्षाएँ सांसारिक सुख-भोग, धन-सम्पत्ति, नाम-श, अधिकार आदि को ठुकराकर उसे आध्यात्मिक जीवन की खोज में रेत करती हैं, और जब संसार के स्वभाव में पैनी दृष्टि डालकर वह समझ ता है कि यह जगत् क्षणभंगुर है, दुःख तथा झगड़ों से भरा हुआ है और के आनन्द तथा भोग तुच्छ हैं, तब वह इन सबसे मुख मोड़कर शाश्वत । तथा चिरन्तन आश्रयस्वरूप उस सत्य को ढूँढ़ने लगता है। वह समस्त सारिक अधिकारों, यश, सम्पदा से पूर्ण संन्यास ले लेता है और त्मोतसर्ग करके आध्यात्मिकता को निरन्तर ढूँढ़ता हुआ प्रेम, दया, तप र शाश्वत ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। वर्षों के ध्यान, तप र खोज से ज्ञानरूपी रत्न को पाकर वह भी पर्याय-क्रम से स्वयं गुरु जाता है, और फिर शिष्यों – गृही तथा त्यागियों – में उस ज्ञान का ार कर देता है। (३/१८४)

२. संन्यासी का कोई मत या सम्प्रदाय नहीं हो सकता, क्योंकि का जीवन स्वतंत्र विचार का होता है, और वह सभी मत-मतान्तरों से की अच्छाइयाँ ग्रहण करता है। उसका जीवन साक्षात्कार का होता है, कि केवल सिद्धान्तों अथवा विश्वासों का, और रूढ़ियों का तो बिल्कूल नहीं। (३/१८४)

३. "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च, यही संन्यास का यथार्थ उद्देश्य

है। इस बात की वेद-वेदान्त घोषणा कर रहे हैं कि संन्यास ग्रहण न करने से कोई कभी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि इस संसार का भोग करना है और साथ ही ब्रह्मज्ञ भी बनना है, उनकी बात कभी न मानो। प्रच्छन्न भोगियों के ऐसे भ्रमात्मक वाक्य होते हैं। (६/६२)

४. बिना त्याग के मुक्ति नहीं। बिना त्याग के पराभक्ति नहीं। (६/६२)

५. सांसारीक झगड़ो को बिना त्यागे किसी की मुक्ति नहीं। जो गृहस्थाश्रम में बँधे रहते हैं, वे स्वयं यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार की कामना के दास बनकर ही संसार में फँसे हुए हैं। यदि ऐसा न होगा तो फिर संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई अर्थ के, कोई मान, यश, विद्या अथवा पाण्डित्य के। इस दासत्व को छोड़कर बाहर निकलने से ही वे मुक्ति के पथ पर चल सकते हैं। लोग कितना ही क्यों न कहें, पर मैं भली भाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सबको त्यागकर संन्यास ग्रहण नहीं करता, तब तक किसी भी प्रकार उसके लिए ब्रह्मज्ञान असम्भव है।" (६/६२)

६. "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय ही संन्यासियों का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके जो इस ऊँचे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसका तो जीवन ही व्यर्थ है – वृथैव तस्य जीवनम्। जगत् में संन्यासी क्यो जन्म लेते है? औरों के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने, जीव के आकाशभेदी क्रन्दन को दूर करने, विधवा के आँसू पोंछने, पुत्र-वियोग से पीड़ित अबलाओं के मन को शान्ति देने, सर्वसाधारण को जीवन-संग्राम में समर्थ करने, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सबका ऐहिक और पारमार्थिक मंगल करने और ज्ञानालोक से सबके भीतर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे जाग्रत करने।" (६/६७)

७. उठो, जागो, स्वयं जगकर औरों को जगाओ। अपने नर-जन्म को सफल करो, उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (उठो जागो, और तब तक रुको नहीं, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाय)।" (६/६७)

८. मनुष्य-जन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष

की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवती होती है; नहीं तो काम-कांचन में लिप्त व्यक्तियों के मन की उधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिसके मन में स्त्री, पुत्र, धन, मान प्राप्त करने का संकल्प है, उनके मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे हो? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार है, जो सुख-दुःख, भले-बुरे के चंचल प्रवाह में धीर-स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वही, निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी – महाबल से जगद्रूपी जाल को तोड़कर माया की सीमा को लाँघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है। (६/१६४)

९. अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए। वैराग्य न आने पर, त्याग न होने पर, भोग-स्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है? – वह बच्चे के हाथ का लड्डू तो है नहीं, जिसे भुलावा देकर छीन कर खा सकते हो। (६/१६४)

१०. प्रत्येक ज्ञात धर्म में संन्यासी होते रहे हैं और हैं। हिन्दू संन्यासी हैं, बौद्ध संन्यासी हैं, ईसाई पादरी हैं और इस्लाम को भी अपनी इस प्रथा की कठोर अस्वीकृति छोड़नी पड़ी और भिक्षु, फक़िरों या संन्यासियों की एक सम्पूर्ण शृंखला स्वीकार करनी पड़ी। (९/२८८)

११. किन्तु तब इस एकान्त महत्त्व की, समस्त सहायता का तिरस्कार करने की, जीवन की आँधियों का सामना करने और बिना किसी प्रकार के प्रतिफल या कर्तव्य-पूर्ति की भावना के कर्म करने की अद्भुत अनुभूति का क्या होगा?– सारे जीवन आनन्दपूर्वक मुक्त रहकर कर्म करने की अनुभूति; क्योंकि दासों की भाँति मिथ्या मानव-प्रेम अथवा महत्त्वाकांक्षा के अंकुशों से कर्म करने की यह प्रेरणा नहीं है!

इसे तो केवल संन्यासी ही प्राप्त कर सकता है। धर्म का क्या होगा? वह रहेगा या उसे समाप्त होना है? यदि उसे रहना है, तो उसे अपने विशेषज्ञों अपने सैनिकों की आवश्यकता है। संन्यासी धार्मिक विशेषज्ञ है; क्योंकि उसने धर्म को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया है। वह भगवान् का सैनिक है। कौन सा धर्म तब तक मर सकता है, जब तक उसमें श्रद्धालु संन्यासियों का समुदाय बना रहता है? (९/२९२)

१२. "संन्यास की उत्पत्ति कहीं से ही क्यों न हो, इस त्याग-व्रत के आश्रम से ब्रह्मज्ञ होना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इस संन्यास ग्रहण में ही परम पुरुषार्थ है। वैराग्य उत्पन्न होने पर जिनका संसार से अनुराग हट गया है, वे ही धन्य है।" (६/६५)

१३. यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता, तो क्या मैं इन्द्रियों के जीवन में आनन्द पाऊँगा? यदि मुझे अमृत नहीं मिलता, तो क्या मैं गड्ढे के पानी से प्यास बुझाऊँ? (१०/२२०)

१४. किसी को राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता चाहे मिल जाय, पर यदि वह वासनाओं और इच्छाओं का दास है, तो सच्ची स्वतंत्रता का शुद्ध आनन्द वह नहीं जान सकता। (१०/२२२)

१५. यदि कोई मनुष्य जगत् की निस्सार वस्तुओं का त्याग कर देता है, तो लोग उसे पागल कहते हैं। परन्तु ऐसे ही पुरुष पृथ्वी की संजीवनी होते हैं। ऐसे ही पागलपन से वे शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने इस संसार को हिला दिया है, और ऐसे ही पागलपन से भविष्य में ऐसी शक्तियों का जन्म होगा, जो हमारे संसार में उथल-पुथल मचा देंगी। (७/२५१-५२)

१६. सच्चे संन्यासी ही गृहस्थों के उपदेशक हैं। उन्हींसे उपदेश और ज्ञानालोक प्राप्त कर प्राचीन काल में गृहस्थ लोग जीवन संग्राम में सफल हुए थे। संन्यासियों को अनमोल उपदेश के बदले गृहस्थ अन्न-वस्त्र देते रहे हैं। यदि ऐसा आदान-प्रदान न होता तो इतने दिनों में भारतवासियों का भी अमेरिका के आदिवासियों के समान लोप हो जाता। संन्यासियों को मुट्ठी भर अन्न देने के कारण ही गृहस्थ लोग अभी तक उन्नति के मार्ग पर चले जा रहे हैं। संन्यासी लोग कर्महीन नहीं हैं, वरन् वे ही कर्म के स्रोत हैं। उनके जीवन या कार्यों में ऊँचे आदर्शों को परिणत होते देख और उनसे उच्च भावों को ग्रहण कर गृहस्थ लोग इस संसार के जीवन-संग्राम में समर्थ हुए तथा हो रहे हैं। पवित्र संन्यासियों को देखकर गृहस्थ भी उन पवित्र भावों

को अपने ज़ीवन में परिणत करते हैं और ठीक ठीक कर्म करने को तत्पर होते हैं। संन्यासी अपने जीवन में ईश्वर तथा जगत् के कल्याण के निमित्त सर्वत्याग रूप तत्त्व को प्रतिफलित करके गृहस्थों को सब विषयों में उत्साहित करते हैं और इसके बदले वे उनसे मुट्ठी भर अन्न लेते हैं। फिर उसी अन्न को उपजाने की प्रवृत्ति और शक्ति भी देश के लोगों में सर्वत्यागी संन्यासियों के स्नेहाशीर्वाद से ही बढ़ रही है। बिना विचारे ही लोग संन्यास-प्रथा की निन्दा करते हैं। अन्य देशों में चाहे जो कुछ क्यों न हो, पर यहाँ तो संन्यासियों के पतवार पकड़े रहने के कारण ही संसार-सागर में गृहस्थों की नौका नहीं डूबने पाती। (६/६५)

१७. किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें कुछ साधनों का आश्रय लेना होता है। स्थान, काल, व्यक्ति, इत्यादि के भेद से ये सब साधन बदलते रहते हैं, परन्तु उद्देश्य या साध्य कभी बदलता नहीं। संन्यासियों का लक्ष्य है, आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च – अपनी मुक्ति और जगत् का कल्याण – और इस उद्देश्य-सिद्धि के साधनों में काम-कांचन-त्याग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रयोजनीय है। ध्यान रखो, त्याग का अर्थ है, स्वार्थ का सम्पूर्ण अभाव। बाह्य रूप से सम्पर्क न रखने से ही त्याग नहीं हो जाता। जैसे, हम अपना धन दूसरे के पास रखें और स्वयं उसे छुएँ तो नहीं, पर उससे लाभ पूरा उठायें – क्या यह त्याग कहा जा सकता है? उपर्युक्त द्विविध उद्देश्यों की सिद्धि के हेतु भिक्षावृत्ति संन्यासी के लिए बहुत ही उपयोगी है, पर यह तभी सम्भव है, जब गृहस्थ लोग मनु और अन्य शास्त्रकारों के वचनानुसार प्रतिदिन अपने खाद्य पदार्थों का एक भाग संन्यासी अतिथियों के लिए रख छोड़ें। आजकल समय बहुत बदल गया है, जैसे कि मधुकरी की प्रथा – विशेषत: बंगाल में – पायी ही नहीं जाती। यहाँ (बंगाल में) मधुकरी द्वारा निर्वाह की चेष्टा करना शक्ति का अपव्यय मात्र होगा, और उससे कोई लाभ न होगा। भिक्षा का नियम ऊपर कहे दोनों उद्देश्यों की सिद्धी का साधन मात्र है, पर अब उससे काम नहीं चल सकता। अतएव आधुनिक परिस्थितियों में, यदि संन्यासी जीवन की मोटी मोटी आवश्यकताओं के लिए कुछ प्रबन्ध कर ले और निश्चिन्त होकर अपनी समस्त शक्ति अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए लगाये, तो यह संन्यास के नियमों के विरुद्ध न होगा। साधनों को ही बहुत अधिक महत्त्व देने से गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। असल वस्तु तो साध्य है – लक्ष्य है, इसे कभी भी ओझल नहीं होने देना चाहिए। (३/१८५-८६)

१८. इस अमेरिका देश में वर्ष में केवल छ: मास प्रत्येक रविवार को केवल दो घंटे ही धर्मोपदेश देने के लिए पादरी लोग ३०,००० रु., ५०,००० रु. और कभी कभी तो ९०,००० रु. तक वार्षिक वेतन पाते हैं। देखो, अमेरिकन लोग अपने धर्म की रक्षा के लिए किस तरह करोड़ों रुपये बहा देते हैं और बंगदेशीय नवयुवकों को यह शिक्षा दी गयी है कि ये देवतुल्य परम नि:स्वार्थ कमलीवाले बाबा सरीखे संत आलसी और आवारा लोग हैं। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता: – 'जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, उन्हें मैं अपना सबसे श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ।'

अच्छा, अब एक दूसरे सिरे का उदाहरण लो – मान लो, एक अत्यन्त अज्ञानी बैरागी है। वह भी किसी गाँव में पहुँचेगा तो तुलसीकृत रामायण, चैतन्य-चरितामृत और यदि दाक्षिणात्य हुआ, तो दक्षिण के आलवार ग्रन्थों में से जो कुछ भी वह जानता होगा, उसे ग्रामवासियों को सिखाने का भरसक प्रयत्न करेगा। क्या ऐसा करने से कोई उपकार नहीं होता? और यह सब केवल रोटी के टुकड़े और लँगोटी के कपड़े के बदले में हो जाता है। इन लोगों की निर्दयतापूर्ण समालोचना करने से पूर्व, मेरे भाइयो! यह तो सोचो कि तुमने अपने गरीब देशभाइयों के लिए क्या किया है, जिनके खर्च से तुमने अपनी शिक्षा पायी, जिनका शोषण करके तुम अपने पदगौरव को कायम रखते हो और 'बाबा जी लोग केवल आवारा फिरनेवाले लोग होते हैं", यह सिखाने के लिए अपने शिक्षकों को वेतन देते हो! (९/३६८)

१९. संन्यासी का धनी लोगों से कोई वास्ता नहीं, उसका कर्तव्य तो गरीबों के प्रति होता है। उसे निर्धनों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए और अपनी समस्त शक्ति लगाकर सहर्ष उनकी सेवा करनी चाहिए। धनिकों

ा आदर-सत्कार करना और आश्रय के लिए उनका मुँह जोहना यह हमारे
श के सभी संन्यासी सम्प्रदायों के लिए अभिशापस्वरूप रहा है। सच्चे
न्यासी को इस बात में बड़ा सावधान रहना चाहिए और इससे बिल्कुल
चकर रहना चाहिए। इस प्रकार का व्यवहार तो वेश्याओं के लिए ही उचित
, न कि संसार-त्यागी संन्यासी के लिए। (३/१८५)

२०. एक संन्यासी जब तक कि सर्वोच्च पद पर न पहुँच जाय, अर्थात्
रमहंस न हो जाय, तब तक उसे गृहस्थों द्वारा छुए या उपयोग में लाये
ोजन, बिछावन आदि से बचना चाहिए, उनके प्रति घृणा की भावना से
हीं, वरन् अपने को बचाने के लिए। (३/१८७)

२१. संन्यासी की सच्ची कसौटी है, संसार में रहना किन्तु संसार
ा न होना। (६/२५९)

२२. सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नहीं वह, स्त्री में जिसको होती पत्नी भास,
अथवा वह जो किंचित् भी संचित रखता निज पास!
वह भी पार नहीं कर पाता है माया का द्वार
क्रोधग्रस्त जो, अत: छोड़कर निखिल वासना-भार
गाओ धीर-वीर संन्यासी, गूँजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत्सत् ओम्! (१०/१७५)

२३. कहाँ खोजते उसे सखे, इस ओर कि या उस पार?
मुक्ति नहीं है यहाँ, वृथा सब शास्त्र, देव-गृहद्वार!
व्यर्थ यत्न सब, तुम्हीं हाथ में पकड़े हो वह पाश
खींच रहा जो साथ तुम्हें! तो उठो, बनो न हताश,
छोड़ो कर से दाम, कहो, संन्यासी, विहँस रोम,
ओम् तत्सत् ओम! (१०/१७४)

२४. मत जोड़ो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास?

दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वत: जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान
ओम् तत्सत् ओम्! (१०/१७५)

□□□

४२

शिक्षा

१. शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। (२/३२८)

२. शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन हैं? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी दर पीढ़ी रोककर प्राय: नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक एक करके लोप होते चले जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे यंत्र-बना रही है? (७/३५९)

३. वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की गयी है।

हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास – केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं, अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं। इस प्रकार हम भारत की आवश्यकता के लिए महान् निर्भीक नारियाँ तैयार करेंगे। (४/२६८)

४. बालक अपने को स्वयं ही शिक्षा देता है। तुम मेरी बातें सुनने आये हो। घर जाकर, तुमने जो यहाँ सीखा है तथा यहाँ आने के पूर्व तुम्हारे मन में जो था, उन दोनों का मिलान करो। तब तुमको पता लगेगा कि यही

बात तो तुमने भी सोची थी; मैंने तो केवल उस बात को प्रकट मात्र किया है। मैं तुमको किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे। मैं तो शायद तुमको अपने उस विचार के प्रकट करने में सहायता ही दे सकूँ। (९/५५)

५. कोई भी किसीको कुछ नहीं सिखा सकता। जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, सारा गुड़ गोबर कर देता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है – एक अबोध शिशु में भी – केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है, और यही आचार्य का काम है। हमें बच्चों के लिए बस इतना ही करना है कि वे अपने हाथ-पैर, आँख-कान का समुचित उपयोग करना भर सीख लें और फिर सब आसान है। (८/२२९)

६. क्या तुमने उपनिषदों की कथाएँ नहीं पढ़ी हैं? मैं अभी एक कथा सुनाता हूँ। ब्रह्मचारी सत्यकाम गुरु के पास अध्ययन के लिए गया। गुरु ने उसे गायें चराने जंगल में भेज दिया। गायें चराते चराते कई वर्ष व्यतीत हो गये। गायों की संख्या भी दुगुनी हो गयी। तब सत्यकाम ने आश्रम लौट चलने का विचार किया। मार्ग में एक वृषभ, अग्नि तथा कुछ अन्य प्राणियों ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। जब शिष्य आश्रम में गुरु को प्रणाम करने पहुँचा, तो गुरु ने उसे देखते ही जान लिया कि उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस कथा का सार यही है कि सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त होती है। (८/२३१)

७. मेरे विचार से तो शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य बढ़ाता और उपकरण के पूर्णतया तैयार होने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करता। बच्चे में मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य एक साथ विकसित होना चाहिए। (४/१०९)

८. कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवनसंग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, पर-हित भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही शिक्षा है। आजकल के इन सब स्कूल-कॉलेजों में पढ़कर तुम लोग न जाने अजीर्ण के रोगियों की कैसी एक जमात तैयार कर रहे हो। केवल मशीन की तरह परिश्रम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' वाक्य के साक्षी रूप में खड़े हो! (६/१०६)

९. शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचा कर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कंठस्थ कर रखा है। कहा भी है – यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। अर्थात् – 'वह गधा, जिसके ऊपर चन्दन की लकड़ियों का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को वह नहीं समझ सकता।' यदि बहुत तरह की खबरों का संचय करना ही शिक्षा है, तब तो ये पुस्तकालय संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि और विश्वकोश ही ऋषि हैं। (५/१९५)

१०. 'नहीं, नहीं' की भावना मनुष्य को दुर्बल बना डालती है। देखता नहीं, जो माता-पिता दिन-रात बच्चों के लिखने-पढ़ने पर जोर देते रहते हैं, कहते हैं, 'इसका कुछ सुधार नहीं होगा, यह मूर्ख है, गधा है', आदि आदि – उनके बच्चे अधिकांश वैसे ही बन जाते हैं। बच्चों को अच्छा कहने और प्रोत्साहन देने से समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे बन जाते हैं। जो नियम बच्चों के लिए हैं, वे ही उन लोगों के लिए भी हैं, जो भाव-

राज्य के उच्च अधिकार की तुलना में उन शिशुओं की तरह है। यदि जीवन के रचनात्मक भाव उत्पन्न किये जा सकें तो साधारण व्यक्ति भी मनुष्य बन जायगा और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा। (६/११२)

११. मनुष्य भाषा, सहित्य, दर्शन, कविता, शिल्प आदि अनेकानेक क्षेत्रों में जो प्रयत्न कर रहा है उसमें वह अनेक गलतियाँ करता है। आवश्यक यह है कि हम उसे उन गलतियों को न बतलाकर प्रगति के मार्ग पर धीरे धीरे अग्रसर होने के लिए सहायता दें। गलतियाँ दिखाने से लोगों की भावना को ठेस पहुँचती है तथा वे हतोत्साह हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण को हमने देखा है – जिन्हें हम त्याज्य मानते थे, उन्हें भी वे प्रोत्साहित करके उनके जीवन को गति को मोड़ देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग ही बड़ा अद्भुत था। (६/११२)

१२. ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने उसे ढूँढ़ निकाला। (३/३-४)

१३. संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में हीं विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा अवसर मात्र है; परन्तु सारे समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेब के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपक प्रदान किया और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचार-शृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से विन्यस्त किया तथा उनमें एक नयी कड़ी का

आविष्कार किया। उसीको हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेब में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में। (३/४)

१४. समस्त ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढका रहता है, और जब आवरण धीरे धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है'। ज्यों ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों त्यों हमारे ज्ञान कीं वद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह पर तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है। (३/४)

१५. चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपक घर्षण का कार्य करके उसको प्रकाशित कर देता है। (३/४)

१६. वास्तव में कभी कोई व्यक्ति किसी दूसरे को नहीं सिखाता, हममें से प्रत्येक को अपने आपको सिखाना होगा। बाहर के गुरु तो केवल उद्दीपक मात्र हैं, जो हमारे अन्तःस्थ गुरु को सब विषयों का मर्म समझने के लिए उद्बोधित कर देते हैं। (३/६७)

१७. तथ्य – समूह से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है। (शिक्षा का आदर्श है) साधन को योग्य बनाना और अपने मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना। यदि मैं किसी विषय पर मन को केन्द्रित करना चाहूँ, तो उसे वहाँ जाना चाहिए, और जिस क्षण कहूँ, वह पुनः मुक्त हो जाय। (४/१५७)

□□□

४३

सेवा

१. ब्रह्म और परमाणु – कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।
(९/३२५)

२. समस्त उपासनाओं का यही धर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा - शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव के यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे। (५/३८-३९)

३. जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए, इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तान की, विश्व के प्राणि मात्र की पहले सेवा करनी चाहिए। (५/३९)

४. शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो भगवान् के दासों की सेवा

करता है वही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ दास है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए। (५/३९)

५. मैं यह फिर कहे देता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ कर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायगा और फिर शिव, जो प्रत्येक हृदय में वास करते हैं, प्रकट हो जायँगे। (५/३९)

६. स्वार्थपरता ही अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वही व्यक्ति स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थपरता ही धर्म की कसौटी है। (५/३९-४०)

७. यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार के भोग-विलास की सामग्रियाँ भी क्षणभंगुर हैं। वे ही यथार्थ में जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं। बाकी लोगों का जीना तो मरने ही के बराबर है। (२/३७१)

८. क्या तुम अपने भाई – मनुष्य जाति – को प्यार करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले हो – ये सब गरीब, दुःखी, दुर्बल मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हींकी पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? (३/३२३)

९. जगत् को प्रकाश कौन देगा? बलिदान भूतकाल से नियम रहा है और हाय! युगों तक इसे रहना है। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है। (४/४०७-८)

१०. संसार के धर्म प्राणहीन परिहास की वस्तु हो गये हैं। जगत् को

जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण है। वह प्रेम एक एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा। (४/४०८)

११. उठो! उठो! संसार दुःख से जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो? हम बार बार पुकारें, जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है? इससे महान् कर्म क्या है? (४/४०८)

१२. मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सबसे बढ़कर, सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है। (६/३४४)

१३. करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है। (१०/४०१)

१४. हम दूसरों के प्रति दया प्रकाशित कर पाते हैं, यह हमारा एक विशेष सौभाग्य है – क्योंकि इस प्रकार के कार्य के द्वारा ही हमारी आत्मोन्नति होती है। दीन जन मानो इसलिए कष्ट पाते हैं कि हमारा कल्याण हो। अतएव दान करते समय दाता ग्रहीता के सामने घुटने टेके और धन्यवाद दे; ग्रहीता दाता के सम्मुख खड़ा हो जाय और अनुमति दे। सभी प्राणियों में विद्यमान प्रभु का दर्शन करते हुए उन्हींको दान दो। (७/८२)

१५. कर्म करना धर्म नहीं है, फिर भी यथोचित रूप से कर्म करना मुक्ति की ओर ले जाता है। वास्तव में समग्र दया अज्ञान है, क्योंकि हम दया किस पर करेंगे? क्या तुम ईश्वर को दया की दृष्टि से देख सकते हो? फिर ईश्वर छोड़कर और है ही क्या? ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने तुम्हारी आत्मोन्नति के लिए यह जगद्रूप नैतिक व्यायामशाला तुम्हें प्रदान की है। यह कभी मत सोचना कि तुम इस जगत् की सहायता कर सकते हो। तुम्हें यदि कोई गाली दे तो उसके प्रति कृतज्ञ होओ। (७/८२)

१६. आत्मप्रतिष्ठा नहीं, आत्मत्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है।

धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्मत्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरों के लिए करो। यही ईश्वर में निवास करना, उन्हीं में विचरण करना और अपने अपनेपन को उन्हीं में प्रतिष्ठित पाना है। (२/२५४)

१७. हर मनुष्य में स्वार्थ शैतान का अवतार है। स्वार्थ का एक एक अंश, अंशतः शैतान है। एक ओर से तुम स्वार्थ को हटा लो और दूसरी ओर से ईश्वर प्रविष्ट हो जायगा। (१/३०१)

१८. सर्वोच्च आदर्श है — चिरंतन और सम्पूर्ण आत्मत्याग, जिसमें किसी प्रकार का 'मैं' नहीं, केवल 'तू' ही 'तू' है। हमारे जाने या बिना जाने, कर्मयोग हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है। (३/५९)

१९. स्वार्थशुन्यता ही ईश्वर है। (३/६१)

२०. प्रश्न तो यह है कि क्या तुम निःस्वार्थ हो? यदि तुम हो, तो चाहे तुमने एक भी धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन न किया हो, चाहे तुम किसी भी गिरजा या मन्दिर में न गये हो, फिर भी तुम पूर्णता को प्राप्त कर लोगे। (३/६७)

२१. सुर और असुर में कुछ भेद नहीं है, भेद केवल निःस्वार्थ तथा स्वार्थ में है। (९/१०२)

२२. मानव जाति की सेवा करना विशेषाधिकार है, क्योंकि यह ईश्वर की उपासना है। ईश्वर यहीं है, इन सब मानवीय आत्माओं में है। वह मनुष्य की आत्मा है। (९/१००-१)

२३. जिसकी हम सहायता करते हैं – उसे साक्षात् नारायण मानना चाहिए। मनुष्य की सहायता द्वारा ईश्वर की उपासना करना क्या हमारा परम सौभाग्य नहीं है? (३/५२)

२४. यह संसार तो चरित्र-गठन के लिए एक विशाल नैतिक व्यायामशाला है। इसमें हम सभी को अभ्यासरूप कसरत करनी पड़ती है, जिससे हम आध्यात्मिक बल से अधिकाधिक बलवान बनते रहें। (३/५४)

२५. प्रत्येक वस्तु का अग्रांश दीनों को देना चाहिए, अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के रूप (प्रतिनिधि) हैं। दुःखी ही ईश्वर का रूप है। (९/१०)

□□□

४४

स्त्रीत्त्व का आदर्श

१. महान् आर्यों ने तथा शेष में बुद्ध ने स्त्री को सदैव पुरुष के बराबर थान में रखा हैं। उनके लिए धर्म में लिंगभेद का अस्तित्व न था। वेदों ौर उपनिषदों में स्त्रियों ने सर्वोच्च सत्यों की शिक्षा दी है और उनको वही द्धा प्राप्त हुई है, जैसी कि पुरुषों को। (६/२७६)

२. बुद्ध ने धर्म में पुरुषों के समान ही स्त्रियों का भी अधिकार स्वीकार कया था, और उनकी अपनी स्त्री ही उनकी प्रथम और प्रधान शिष्या थीं। ह बौद्ध भिक्षुणियों की अधिनायिका हुई थीं। (७/९२)

३. भारतीय ऋषियों के विवरणों में महिला ऋषियों का भी स्थान है। साई धर्म में सभी पैगम्बर हुए हैं, जब कि भारत के धर्मग्रन्थों में महात्मा त्रयाँ एक प्रमुख स्थान रखती हैं। (१/२७२)

४. राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से किस प्रकार प्रश्न पूछे ये थे? उनकी मुख्य प्रश्न करनेवाली थी, वाचक्नवी वाग्मी कन्या – ह्मवादिनी, जैसा कि उन दिनों कहा जाता था। वह कहती है, "मेरे प्रश्न क कुशल धनुर्धर के हाथ में दो चमकदार तीरों के समान है।" उसके नारी ने की चर्चा भी नहीं की गयी है। और फिर, क्या वनों में स्थित हमारे ातन विश्वविद्यालयों में लड़कों और लड़कियों की समानता से अधिक पूर्ण छ और हो सकता है। हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़िए, शकुन्तला की हानी पढ़िए और देखिए कि क्या टेनीसन की 'प्रिन्सेज' हमें कुछ सिखा कती है?" (४/२६७)

५. "नारी के आर्य और सेमेटिक आदर्श सदा ही एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत रहे हैं। सेमेटिक लोगों में नारी की उपस्थिति भक्ति में बाधक मानी गयी है, और वहाँ वह कोई धार्मिक कृत्य नहीं करती, जैसे कि भोजन के लिए एक पक्षी को मारना तक भी! आर्य लोगों के अनुसार पुरुष कोई भी धार्मिक कृत्य अपनी पत्नी के बिना नहीं कर सकता।" (४/२६६)

६. स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है।

इस कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इस कारण ही उन्होंने जगज्जननी के रूप का दर्शन नारियों के मातृ-भाव में करने का उपदेश दिया। (४/३१७)

७. यदि तुम किसीको सिंह नहीं होने दोगे, तो वह लोमड़ी हो जायगा। स्त्री एक शक्ति है, किन्तु अब इस शक्ति का प्रयोग केवल बुरे विषयों में ही हो रहा है। इसका कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों के ऊपर अत्याचार कर रहे हैं। आज स्त्रियाँ लोमड़ी के समान हैं, किन्तु जब उनके ऊपर और अधिक अत्याचार नहीं होगा, तब वे सिंहिनी होकर खड़ी होंगी। (७/३०)

८. किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की महिलाओं के साथ होनेवाला व्यवहार। प्राचीन यूनान में पुरुष और स्त्री की स्थिति में कोई भी अन्तर नहीं था, समानता का विचार प्रचलित था। कोई हिन्दू बिना विवाह किये पुरोहित नहीं हो सकता, आशय यह है कि अविवाहित, एकाकी मनुष्य केवल आधा और अपूर्ण होता है। आदर्श स्त्रीत्व का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। सतीत्व आधुनिक हिन्दू नारी के जीवन की केन्द्रीय भावना है। पत्नी एक वृत्त का केन्द्र है, जिसका स्थायित्व उसके सतीत्व पर निर्भर है। इसी आदर्श की अति के कारण हिन्दू विधवाएँ जलायी गयीं। हिंदू स्त्रियाँ बहुत ही आध्यात्मिक और धार्मिक होती हैं। कदाचित् संसार की सभी महिलाओं से अधिक। यदि हम उनकी इन सुन्दर विशिष्टताओं की रक्षा कर सकें और साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी कर सकें, तो भविष्य

की हिन्दू नारी संसार की आदर्श नारी होगी। (१/३२४-२५)

९. मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए; और वह विवाह को अछेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से हो सकती है। रोमन कैथोलिक ईसाई और हिन्दू विवाह को अछेद्य और पवित्र धर्मसंस्कार मानते हैं, इसलिए दोनों जातियों ने परमशक्तिमान महान् ब्रह्मचारी पुरुषों और स्त्रियों को उत्पन्न किया है। अरबों के लिए विवाह एक इकरारनामा है या बल से ग्रहण की हुई सम्पत्ति, जिसका अपनी इच्छा से अन्त किया जा सकता है, इसलिए उनमें ब्रह्मचर्यभाव का विकास नहीं हुआ है। जिन जातियों में अभी तक विवाह का विकास नहीं हुआ था, उनमें आधुनिक बौद्ध धर्म का प्रचार होने के कारण उन्होंने संन्यास को एक उपहास बना डाला है। इसलिए जापान में जब तक विवाह के पवित्र और महान् आदर्श का निर्माण न होगा, (परस्पर प्रेम और आकर्षण को छोड़कर) तब तक, मेरी समझ में नहीं आता कि वहाँ बड़े बड़े संन्यासी और संन्यासिनियाँ कैसे हो सकते हैं। जैसा कि आप अब समझने लगी हैं कि जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य है, उसी तरह जनता के लिए इस बड़े धर्म-संस्कार की आवश्यकता – जिससे कुछ शक्तिसम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियों की उत्पत्ति हो – मेरी भी समझ में आने लगी है। (८/३९४-९५)

१०. वर्तमान युग में अनन्त शक्तिस्वरूपिणी जननी के रूप में ईश्वर की उपासना करना उचित है। इससे पवित्रता का उदय होगा और इस मातृ-पूजा से अमेरिका में महाशक्ति का विकास होगा। यहाँ पर (अमेरिका में) कोई मन्दिर (पौरोहित्य शक्ति) हमारा गला नहीं दबाता और अपेक्षाकृत गरीब देशों के समान यहाँ कोई कष्ट भी नहीं भोगता। स्त्रियों ने सैकड़ों युगों तक दुःख-कष्ट सहन किये हैं, इसीसे उनके भीतर असीम धैर्य और अध्यवसाय का विकास हुआ है। वे किसी भी भाव को सहज ही छोड़ना नहीं चाहतीं। इसी हेतु वे अंधविश्वासी धर्मों एवं सभी देशों के पुरोहितों की मानो आधार हो जाती हैं; यही बाद में उनकी स्वाधीनता का कारण होगा। हमें वेदान्ती

होकर वेदान्त के इस महान् भाव को जीवन में परिणत करना होगा। नि श्रेणी के मनुष्यों में भी यह भाव वितरित करना होगा – यह केवल स्वाधी अमेरिका में ही कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है। भारत में बुद्ध शंकर तथा अन्यान्य महा मनीषी व्यक्तियों ने इन सभी भावों का लोगों प्रचार किया था, किन्तु जनता उन भावों को धारण नहीं कर सकी। इ नूतन युग में जनता वेदान्त के आदर्शानुसार जीवन-यापन करेगी, और य स्त्रियों के द्वारा ही कार्य रूप में परिणत होगा।

'हृदय में सहेज रखो सुंदरी प्यारी श्यामा माँ को,
वाणी को छोड़ फेंक दो शेष सब,
और वाणी से कहलाते रहो – माँ, माँ!
कुमंत्रियों को न पास भी फटकने दो,
मैं और मेरे हृदय! हमीं दोनों एकान्त दर्शन पाते रहें माँ का!
जो कुछ जीवन्त है, तू उसके परे है!
ओ मेरे जीवन की चाँद, मेरी आत्मा की आत्मा!' (७/१११-१२)

११. 'माँ' का स्वरूप तत्वत: क्या है तुम लोग अभी नहीं सम सके हो – तुममें से एक भी नहीं। किन्तु धीरे धीरे तुम जानोगे। भाई, शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के स देशों में हमारा देश ही सबसे अधम है, शक्तिहीन है, पिछड़ा हुआ है इसका कारण यही है कि वहाँ शक्ति की अवमानना होती है। उस महाशक्ति को भारत में पुन: जाग्रत करने के लिए माँ का आविर्भाव हुआ है, अ उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से जगत् में गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन होगा। भाई, अभी तुम क्या देख रहे हो, धीरे धीरे सब समझ जाओगे। इसलि उनके मठ का होना पहले आवश्यक है ... रामकृष्ण परमहंस भले ही रहें, मैं भीत नहीं हूँ। माँ के न रहने से सर्वनाश हो जायगा। शक्ति की कृ के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अमेरिका और यूरोप में क्या दे रहा हूँ? – शक्ति की उपासना। परन्तु वे उसकी उपासना अज्ञानव इन्द्रियभोग द्वारा करते हैं। फ़िर जो पवित्रतापूर्वक सात्त्विक भाव द्वारा उ

जेंगे, उनका कितना कल्याण होगा! दिन पर दिन सब समझता जा रहा मेरी आँखें खुलती जा रही हैं। इसलिए माँ का मठ पहले बनाना पड़ेगा। हले माँ और उनकी पुत्रियाँ, फिर पिता और उनके पुत्र – क्या तुम यह मझ सकते हो? सभी अच्छे हैं, सबको आशीर्वाद दो। भाई दुनियाभर में क उनके यहाँ के अलावा हर जगह भावादर्श में तथा उसके निर्वाह में मी होती है। भाई, नाराज न होना, तुम सब में से किसी ने भी अभीतक को समझ नहीं पाया है। माँ की कृपा मुझ पर बाप की कृपा से लाखगुनी माँ की कृपा, माँ का आशीष मेरे लिए सर्वोपरि है। (२/३६०-६१)

१२. जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया है – चाहे उसने उसकी ल्पना ही की हो – नारी के प्रति उसका आदर पृथ्वी पर अद्वितीय है। श्रमी नारी के कन्धों पर कानूनी दृढ़ता से बँधे हुए बहुत-से बोझ हैं, जिनका री नारियों को पता भी नहीं है। निश्चय ही हमारे अपने दोष हैं और ने अपवाद हैं, पर इसी प्रकार उनके भी हैं। हमें यह कभी नहीं भूलना हिए कि संसार भर में सबका प्रयत्न यह रहा है कि प्रेम, दया और ईमानदारी अभिव्यक्ति दी जाय, और यह भी कि इस अभिव्यक्ति के लिए निकटतम यम राष्ट्रीय रीति-रिवाज हैं। जहाँ तक घरेलू गुणों का सम्बन्ध है, मुझे कहने में तनिक भी झिझक नहीं है कि हमारे भारतीय रीति-रिवाज बहुत बातों में सभी दूसरों से अच्छे हैं।

"तो स्वामीजी, क्या हमारी नारियों की कोई समस्या है भी?"

"निश्चय ही हैं, उनकी समस्याएँ बहुत सी हैं और गम्भीर हैं, पर उनमें भी ऐसी नहीं है, जो जादू भरे शब्द 'शिक्षा' से हल न की जा सकती पर वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की है।"

"और आप उसकी परिभाषा कैसे करेंगे?"

"मैं कभी किसी बात की परिभाषा नहीं करता", स्वामीजी ने मुस्कराते कहा, "फिर भी हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास – केवल शब्दों टना मात्र नहीं, अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक

इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं। इस प्रकार हम भारत की आवश्यकता के लिए महान् निर्भीक नारियाँ तैयार करेंगे – नारियाँ जो संघमित्रा, लीला, अहल्याबाई, और मीराबाई की परम्पराओं को चालू रख सकें – नारियाँ जो वीरों की माताएँ होने के योग्य हों, इसलिए कि वे पवित्र और आत्मत्यागी हैं, और उस शक्ति से शक्तिशाली हैं, जो भगवान् के चरण छूने से आती है।" (४/२६८)

१३. "मैं बहुत चाहता हूँ कि हमारी स्त्रियों में तुम्हारी बौद्धिकता होती, परन्तु यदि वह चारित्रिक पवित्रता का मूल्य देकर ही आ सकती हो, तो मैं उसे नहीं चाहूँगा। तुमको जो कुछ आता है, उसके लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ, लेकिन जो बुरा है, उसे गुलाबों से ढककर उसे अच्छा कहने का जो यत्न तुम करती हो, उससे मैं नफ़रत करता हूँ। बौद्धिकता ही परम श्रेय नहीं है। नैतिकता और अध्यात्मिकता के लिए हम प्रयत्न करते हैं। हमारी स्त्रियाँ इतनी विदुषी नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं। प्रत्येक स्त्री के लिए अपने पति को छोड़ अन्य कोई भी पुरुष पुत्र जैसा होना चाहिए।

"प्रत्येक पुरुष के लिए अपनी पत्नी को छोड़ अन्य सब स्त्रियाँ माता के समान होनी चाहिए। जब मैं अपने आसपास देखता हूँ और स्त्री-दाक्षिण्य के नाम पर जो कुछ चलता है, वह देखता हूँ, तो मेरी आत्मा ग्लानि से भर उठती है। जब तक तुम्हारी स्त्रियाँ यौन सम्बंधी प्रश्न की उपेक्षा करके सामान्य मानवता के स्तर पर नहीं मिलतीं, उनका सच्चा विकास नहीं होगा। तब तक वे सिर्फ़ खिलौना बनी रहेंगी, और कुछ नहीं। यही सब तलाक का कारण है। तुम्हारे पुरुष नीचे झुकते हैं और कुर्सी देते हैं, मगर दूसरे ही क्षण वे प्रशंसा में कहना शुरू करते हैं – 'देवी जी, तुम्हारी आँखें कितनी सुन्दर हैं!' उन्हें यह करने का क्या अधिकार है? एक पुरुष इतना साहस क्यों कर पाता है, और तुम स्त्रियाँ कैसे इसकी अनुमति दे सकती हो? ऐसी चीजों से मानवता के अधमतर पक्ष का विकास होता है। उनसे श्रेष्ठ आदर्शों की ओर हम नहीं बढ़ते।

"हम स्त्री और पुरुष हैं, हमें यही न सोचकर सोचना चाहिए कि हम

मानव हैं, जो एक दूसरे की सहायता करने और एक दूसरे के काम आने के लिए जन्मे हैं। ज्यों ही एक तरुण और तरुणी एकान्त पाते हैं, वह उसकी आशंसा करना शुरू करता है, और इस प्रकार विवाह के रूप में पत्नी ग्रहण करने के पहले वह दो सौ स्त्रियों से प्रेम कर चुका होता है। वाह! यदि मैं विवाह करनेवालों में से एक होता, तो मैं प्रेम करने के लिए ऐसी ही स्त्री खोजता, जिससे यह सब कुछ न करना होता।

"जब मैं भारत में था और बाहर से इन चीजों को देखता था, तो मुझसे कहा जाता था, यह सब ठीक है, यह निरा मनबहलाव है। मनोरंजन है और मैं उसमें विश्वास करता था। परन्तु उसके बाद मैंने काफ़ी यात्रा की है, और मैं जानता हूँ कि यह ठीक नहीं है। यह गलत है, सिर्फ तुम पश्चिमवाले अपनी आँखें मूँदे हो और उसे अच्छा कहते हो। पश्चिम के देशों की दिक्कत यह है कि वे बच्चे हैं, मूर्ख हैं, चंचल चित्त हैं और समृद्ध हैं। इनमें से एक ही गुण अनर्थ करने के लिए काफ़ी है; लेकिन जब ये तीनों, चारों एकत्र हों, तो सावधान!" (१०/२१६-१७)

१४. अब देखें, धर्म इस पर क्या कहता है। हिन्दू धर्म सान्त्वना लेकर आता है। आप एक बात स्मरण रखें, हमारा धर्म शिक्षा देता है कि विवाह बुरी चीज है और वह कमजोरों के लिए है। यथार्थ धार्मिक स्त्री या पुरुष तो कभी विवाह ही नहीं करेगा। धार्मिक स्त्री कहती है, "परमात्मा ने मुझे अधिक अच्छा अवसर दिया है। अत: मुझे अब विवाह करने की क्या जरूरत है? मैं बस, ईश्वर की पूजा-अर्चना करूँ, किसी पुरुष से प्रेम करने की क्या जरूरत?" (१/३१८)

१५. शक्ति-पूजा केवल काम-वासनामय नहीं है। यह शक्ति-पूजा कुमारी-सधवा-पूजा है, जैसी हमारे देश में काशी, कालीघाट प्रभृति तीर्थ-स्थानों में होती है; यह काल्पनिक नहीं, वास्तविक शक्ति-पूजा है। किन्तु हम लोगों की पूजा इन तीर्थ-स्थानों में ही होती है और केवल क्षण भर के लिए; पर इन लोगों की पूजा दिन-रात बारहो महीने चलती है। पहले स्त्रियों का आसन होता है। कपड़ा, गहना, भोजन, उच्च स्थान, आदर और

खातिर पहले स्त्रियों की। यह शक्ति-पूजा प्रत्येक नारी की पूजा है, चाहे परिचित हो या अपरिचित। उच्च कुल की और रूपवती युवतियों की तो बात ही क्या है! (१०/९१)

१६. पुरुषों के लिए जैसे शिक्षा-केन्द्र बनाने होंगे, वैसे ही स्त्रियों के निमित्त भी स्थापित करने होंगे। शिक्षित और सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियाँ इन केन्द्रों में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम आदि वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे तथा आदर्श चरित्र गठन करने के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना पड़ेगा; जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों, वही करना होगा। इन कन्याओं से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माताएँ शिक्षित और नीतिपरायण हैं, उनके ही घर में बड़े लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो स्त्रियों को काम करने का यन्त्र सा बना रखा है। राम! राम!! तुम्हारी शिक्षा का क्या यही फ़ल है? वर्तमान दशा से स्त्रियों का प्रथम उद्धार करना होगा। सर्वसाधारण को जगाना होगा; तभी तो भारत का कल्याण होगा। (६/३७)

१७. पत्नी - सहधर्मिणी है। हिन्दू को सैकड़ों धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते हैं और अगर वह पत्नी-विहीन है, तो एक भी नहीं कर सकता। तुम देखते हो कि पुरोहित उनकी गाँठ जोड़ देते हैं और पति-पत्नी साथ साथ मन्दिरों में जाते हैं और बड़ी तीर्थ-यात्राओं पर भी वे गाँठ जोड़ कर जाते हैं।

राम ने अपने शरीर का उत्सर्ग कर परलोक में सीता को प्राप्त किया।

सीता – पवित्र, निर्मल, समस्त दु:ख झेलनेवाली!

भारत में उस प्रत्येक वस्तु को सीता नाम दिया जाता है, जो शुभ, निर्मल और पवित्र होती है; नारी में नारीत्व का जो गुण है, वह सीता है।

सीता – धैर्यवान, सब दु:खों को झेलनेवाली, पतिव्रता, नित्य साध्वी पत्नी! उसने तमाम कष्ट झेले, राम के विरुद्ध एक भी अपशब्द नहीं निकाला।

सीता में प्रतिहिंसा कभी नहीं थी। 'सीता बनो!' (७/१४७)

१८. पश्चिमी देशों में नारियों का ही राज, उन्हीं का प्रभाव और उन्हींकी भुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जाननेवाली तेजस्विनी और विदुषी महिला स समय धर्म-प्रचार के लिए इंग्लैण्ड जायँ तो मुझे विश्वास है कि हर साल म से कम सैकड़ों नर-नारी भारतीय धर्म ग्रहण कर कृतार्थ हो जायँगे। केली रमाबाई ही हमारे यहाँ से गयी थीं, अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी विज्ञान ौर शिल्प आदि में उनकी गति बहुत ही कम थी, तो भी उन्होंने सबको ाश्चर्यचकित कर दिया था। यदि आप जैसी कोई वहाँ जायँ तो इंग्लैण्ड ल जाय, अमेरिका का तो कहना ही क्या! मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा कि यदि भारत की नारियाँ देशी पोशाक पहने भारतीय ऋषियों के मुँहसे कले हुए धर्म का प्रचार करें तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी जो सारे पश्चिमी सार को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, खना, लीलावती, सावित्री और उभयभारती ी इस जन्मभूमि में किसी और नारी को यह करने का साहस नहीं होगा? /३१३)

१९. उन्नति के लिए सबसे पहले स्वाधीनता की आवश्यकता है। यदि न लोगों में से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा मुक लड़के की मुक्ति के लिए काम करूँगा, तो यह गलत है, हजार बार लत होगा। मुझसे बार-बार यह पूछा जाता है कि विधवाओं की समस्या बारे में और स्त्रियों के प्रश्न के विषय में आप क्या सोचते हैं? मैं इस न का अन्तिम उत्तर यह देता हूँ -- क्या मैं विधवा हूँ, जो तुम ऐसा निरर्थक न मुझसे पूछते हो? क्या मैं स्त्री हूँ, जो तुम बारंबार मुझसे यही प्रश्न ते हो? स्त्री जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढ़नेवाले तुम कौन? क्या तुम हर एक विधवा और हर एक स्त्री के भाग्यविधाता भगवान् ? दूर रहो! अपनी समस्याओं का समाधान वे स्वयं कर लेंगी। (५/१४१)

२०. स्त्रीयों के विषय में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल क्षा का प्रचार कर देने तक ही सीमित है। हमें नारियों को ऐसी स्थिति पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्या को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। उनके लिए यह काम न कोई कर सकता है और न किसीको करना ही चाहिए। और हमारी भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति इसे करने की क्षमता रखती हैं। (४/२६७)

२१. शिष्य -- किन्तु महाराज, इस देश में गार्गी, खना, लीलावती के समान गुणवती शिक्षिता स्त्रियाँ अब पायी कहाँ जाती हैं?

स्वामीजी -- क्या ऐसी स्त्रियाँ इस देश में नहीं हैं? अरे, यह देश वही है जहाँ सीता और सावित्री का जन्म हुआ था। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पायी जाती है, पृथ्वी पर और कहीं ऐसा नहीं है। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ समय तक यही नहीं ठीक हो पाता था कि वे स्त्रियाँ हैं; देखने में ठीक पुरुषों के समान थीं। ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफ़ेसरी करती हैं! एक मात्र भारत ही में स्त्रियों में लज्जा, विनय इत्यादि देखकर नेत्रों को शान्ति मिलती है। ऐसे योग्य आधार के प्रस्तुत होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके! इनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया! उचित रीति से शिक्षा पाने पर ये आदर्श स्त्रियाँ बन सकती हैं। (६/३८-३९)

२२. शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं ही हल कर लेंगी। अब तक तो उन्होंने केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित हो जीवन यापन करना, और थोड़ी सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है। पर अब दूसरी बातों के साथ साथ उन्हें बहादुर भी बनना चाहिए। आज के जमाने में उनके लिए आत्मरक्षा करना सीखना भी बहुत जरूरी हो गया है। देखो झाँसी की रानी कैसी महान् थीं! (८/२७७)

२३. इस देश (अमेरिका) की नारियों को देखकर मेरे तो होश उड़ गये हैं। मुझे बच्चे की तरह घर-बाहर, दूकान-बाजार में लिये फिरती हैं। सब काम करती हैं। मैं उसका चौथाई का चौथाई हिस्सा भी नहीं कर सकता! ये रूप में लक्ष्मी और गुण में सरस्वती हैं -- ये साक्षात् जगदम्बा हैं, इनकी

पूजा करने से सर्वसिद्धि मिल सकती है। अरे, राम भजो, हम भी भले आदमी हैं? इस तरह की माँ जगदम्बा अगर अपने देश में एक हजार तैयार करके मर सकूँ, तो निश्चिन्त होकर मर सकूँगा। तभी तुम्हारे देश के आदमी आदमी कहलाने लायक हो सकेंगे। तुम्हारे देश के पुरुष इस देश के नारियों के पास भी आने योग्य नहीं हैं – तुम्हारे देश की नारियों की बात तो अलग रही! हरे हरे, कितने महापापी हैं। दस साल की कन्या का विवाह कर देते हैं! हे प्रभु! हे प्रभु! किमधिकमिति।

मैं इस देश की महिलाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ। माँ जगदम्बा की यह कैसी कृपा है! ये क्या महिलाएँ हैं? बाप रे! मर्दों को एक कोने में ठूँस देना चाहती हैं। मर्द गोते खा रहे हैं। माँ, तेरी ही कृपा है। गोलाप माँ जैसा कर रही हैं, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। गोलाप माँ या गौरी माँ उनको मंत्र क्यों नहीं दे रही हैं? स्त्री-पुरुष-भेद की जड़ नहीं रखूँगा। अरे, आत्मा में भी कहीं लिंग का भेद है? स्त्री और पुरुष का भाव दूर करो, सब आत्मा है। शरीराभिमान छोड़कर खड़े हो जाओ। अस्ति अस्ति कहो, नास्ति नास्ति करके तो देश गया! (३/३०८-९)

□□□